प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य की बहुविध प्रगति वर्तमान युग में हुई है, किन्तु पूर्ववर्ती कवियो और लेखको ने भी अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थो की रचना की थी। विगत दो दशाब्दियो मे प्राचीन काव्यो और नाटकों के सुसम्पादन की दिशा मे अनेक सद्प्रयत्न हुए हैं। राहुल सांकृत्यायन, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, माताप्रसाद गुप्त प्रभृति विद्वानों ने इस दिशा मे सराहनीय योगदान किया है। हिन्दी में टीका-साहित्य का भी क्रमशः विकास हो रहा है—लाला भगवानदीन के प्रयत्नो को रत्नाकार, मुन्शीराम शर्मा, वियोगी हरि, वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे लेखको ने सफलतापूर्वक आगे बढाया है। फिर भी, कभी-कभी यह प्रतीत होता है कि प्राचीन ग्रन्थो के सुसम्पादित अथवा सुविवेचित सस्करणो की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। 'शकुन्तला नाटक' का यह संस्करण इस दिशा मे हमारा तीसरा आयोजन है—इसके पूर्व 'रानी केतकी की कहानी' और 'मुद्रा राक्षस' हिन्दी-समार को भेंट किए जा चुके हैं।

सस्कृत के नाट्य-साहित्य मे कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं मे भी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए है। हिन्दी मे राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला नाटक' सर्वाधिक प्रचलित है। राजा साहब ने इसके अतिरिक्त कालिदास के 'मेघदूत' का भी अनुवाद किया था। हिन्दी मे 'शकुन्तला नाटक' के दो-तीन सस्करण उपलब्ध हैं, जिनमे साहित्य भडार आगरा द्वारा प्रकाशित सस्करण अधिक प्रचलित है, किन्तु व्याख्यो की अपूर्ण व्याख्या और नाटक की समीक्षा के अभाव मे इस सस्करण से विद्वज्जनों का मनस्तोष न हो पाता था, विशेषतः यह देख कर कि सस्कृत में

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अनेक सुन्दर, संस्करण उपलब्ध हैं। 'मुद्राराक्षस' के बाद 'शकुन्तला नाटक' का सम्पादन और विवेचन हमने इसी उद्देश्य से किया है कि इस रचना तथा ऐसी ही अन्य रचनाओं के सम्पादन की ओर अधिकारी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो सके।

प्रस्तुत कृति को प्रकाश में लाने का बहुत-कुछ श्रेय मेरे अनुज रमेशचन्द्र को है। प्रारम्भ में दी गई शकुन्तला नाटक की समीक्षा उन्हीं के द्वारा लिखी गई है और अधिकांश काव्यांशों की व्याख्या भी उन्होंने ही की है। मूल कृति के साथ ही उनके द्वारा लिखित सामग्री के सम्पादन अथवा परिवर्द्धन के दायित्व को मैंने पूरा किया है। मेरी इच्छा थी कि प्रारम्भ में मेरी ओर से भी एक समीक्षात्मक लेख रहता, किन्तु समयाभाव के कारण यह सम्भव न हो सका।

इन शब्दों के साथ मैं इस कृति को अपने साहित्यिक मित्रों और जिज्ञासु पाठकों को सौंपता हूँ और साथ ही यह आशा करता हूँ कि वे अपने बहुमूल्य सुझाव देकर मेरा मार्ग-दर्शन करेंगे।

१ जनवरी, १९६४ —सुरेशचन्द्र गुप्त

विषय-सूची

क्रम — पृष्ठ

१. 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की समीक्षा — ७—२१

अभिज्ञान शाकुन्तल का हिन्दी अनुवाद, कथावस्तु, कथानक का मूल आधार तथा मौलिक उद्भावनाएँ, कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन, उपस्थापना की दृष्टि से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की विशेषताएँ, चरित्र-चित्रण, देशकाल तथा उद्देश्य, भाषा-शैली और उपसंहार।

२. शकुन्तला नाटक — ६—११०

३. व्याख्या-खण्ड — १११—१७०

मूल पद्य-भाग की आलोचनात्मक व्याख्या

'अभिज्ञान शाकुन्तल' की समीक्षा

संस्कृत नाट्य-साहित्य मे कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसमे हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त तथा कण्व-दुहिता शकुन्तला के प्रणय, वियोग एव पुनर्मिलन की कथा का वर्णन हुआ है। नाट्यकला और कवित्व-कला के सम्मिश्रण की दृष्टि से यह नाटक कवि कालिदास की रचनाओ मे सर्वश्रेष्ठ तथा विश्वसाहित्य की एक उत्कृष्ट कृति बन गया है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् १७८६ मे सर विलियम जोन्स द्वारा अ ग्रे जी मे तथा सन् १७६१ मे जार्ज फोर्स्टर द्वारा जर्मन भाषा मे अनूदित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कवित्व से प्रभावित होकर पाश्चात्य विद्वानो ने यूरोप की प्राय सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद किया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत नाटक का हिन्दी-अनुवाद सर्व प्रथम राजा लक्ष्मणसिंह ने सन् १८६१ मे किया था, जो दो वर्ष पश्चात् सन् १८६३ मे प्रकाशित हुआ। यह सम्पूर्ण अनुवाद, एकाध स्थल के अतिरिक्त खडी बोली गद्य मे है। सन् १८७६ मे सर फ्रेडरिक पिंकाट ने इस गद्यानुवाद का एव सस्करण लन्दन मे प्रकाशित किया था। लगभग २५ वर्ष पश्चात् सन् १८८६ मे राजा लक्ष्मणसिंह ने मूल नाटक के गद्य-भाग का गद्य मे तथा पद्य भाग का पद्य मे अनुवाद करके इस दिशा मे दूसरा प्रयास किया। उनके द्वारा किया गया यह दूसरा अनुवाद ही आजकल सर्व प्रचलित है। भारतेन्दु युग अथवा द्विवेदी युग के कतिपय अन्य लेखको ने भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को हिन्दी मे अनूदित किया था। निवाज कवि का 'शकुन्तला उपाख्यान' (सन् १८८३), प० ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा किया गया अनुवाद (सवत १६५६) और पडित विजयानन्द त्रिपाठी-कृत अनुवाद इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें

से निवाज कवि ने नाटक के मध्य भाग में मौलिक परिवर्तन करने के साथ साथ अनुवाद के प्रारम्भ में भी अपनी ओर से एक सवैया जोड़ा है। इसी प्रकार अन्य दोनो अनुवादो ने भी मूल नाटक से हट कर अपनी ओर से अनेक छन्दो की रचना की है। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने मूल नाटक का प्राय. यथावत् अनुसरण किया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथावस्तु

इस नाटक की कथा प्रस्तावना, सात अंको, दो विष्कम्भ तथा एक प्रवेशक के अन्तर्गत विभक्त है। शिव-स्तुति-रूप मंगलाचरण के अनन्तर प्रथम अक मे राजा दुष्यन्त को हरिण का पीछा करते हुए चित्रित किया गया है। कण्व ऋषि के आश्रम के निकट पहुँचने पर तपस्वियो द्वारा आमन्त्रित होकर वे आश्रम म प्रवेश करते हैं और वहाँ शकुन्तला के अपूर्व सौंदर्य को देखकर उसकी सखियों से उसकी जाति आदि के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करते हैं। यही इन दोनो मे पूर्वानुराग उत्पन्न हो जाता है। द्वितीय अक मे राजा दुष्यन्त यज्ञ की रक्षा के निमित्त आश्रम मे ही ठहर जाते हैं और विदूषक को सेना-सहित राजमाता के पास राज-भवन मे भेज देते हैं। तृतीय अक मे दुष्यन्त शकुन्तला की विरहजनित विह्वल दशा का चित्रण करने के उपरान्त शकुन्तला की ओर से दुष्यन्त के प्रति एक प्रेम-पत्र लिखवाया गया है तथा उसी अवसर पर दुष्यन्त को प्रकट रूप मे उपस्थित करा के दोनों का गन्धर्व विवाह करा दिया गया है। चतुर्थ अक मे राजा दुष्यन्त स्मृति के रूप मे अपनी अगूठी शकुन्तला को देने के उपरान्त उसे शीघ्र राजमहल मे बुलाने का आश्वासन देकर राजधानी मे लौट आते हैं। दुष्यन्त के प्रस्थान के अनन्तर उनके विरह में व्याकुल शकुन्तला ऋषि दुर्वासा का समुचित स्वागत न कर पाने के कारण शाप-ग्रसित होती है। उधर, यात्रा से लौटने पर कण्व मुनि को दिव्य वाणी से सम्पूर्ण वृतान्त का परिज्ञान हो जाता है और वे गौतमी तथा दो ऋषि कुमारों के साथ गर्भवती शकुन्तला को पति-गृह के लिए विदा करते हैं।

पचम अक में राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के परित्याग का वृत्तात है। शाप के कारण वे शकुन्तला को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। दुर्भाग्यवश,

शकुन्तला को दी गई अंगूठी भी सरोवर में गिर गई। अतः वह विलाप करती हुई राजमहल से लौटती है। मार्ग में एक दिव्यज्योति उसे आकाश की ओर उड़ा ले जाती है। छठे अंक में शकुन्तला को दी गई अगूठी को मछुए द्वारा प्राप्त करके दुष्यन्त को पूर्व-प्रेम का स्मरण होता है और वे पुनः विरह व्यथा का अनुभव करने लगते हैं। इसी अवसर पर इन्द्र का सारथी मातलि उन्हें देव-दानव-युद्ध में भाग लेने के लिए बुला ले जाता है। सातवें अंक में दानवों का संहार करने अनन्तर राजा दुष्यन्त लौटते समय हेमकूट पर्वत पर कश्यप मुनि के आश्रम में उनके दर्शनार्थ ठहरते हैं। वहीं उनका शकुन्तला और अपने पुत्र भरत से मिलन होता है। कश्यप उन दोनों को आशीर्वाद देकर विदा करते हैं।

कथानक का मूल आधार तथा मौलिक उदभावनाएं

'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा का मूल आधार महाभारत के आदि पर्व का 'शकुन्तलोपाख्यान' है। बौद्धों के कट्ठहारी जातक' में भी इस कथा के अप्रत्यक्ष संकेत उपलब्ध है। 'पद्मपुराण' के स्वर्ग-खण्ड में भी यह कथानक गृहीत है, किंतु विद्वानों ने इसे परवर्ती रचना माना है। अत प्रभाव की दृष्टि से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कथानक के दो मूल स्रोत है। महाभारत तथा कट्ठहारी जातक। तुलनात्मक दृष्टि से यह ज्ञातव्य है कि कालिदास ने शकुन्तला-विषयक पूर्ववती आख्यान का यथावत् अनुसरण न करके उसमें अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक परिवर्तन किए हैं। नाटक के मुख्य पात्र राजा दुष्यन्त का मृगया-विहार, शकुन्तला से गधर्व-विवाह, कण्व द्वारा शकुन्तला को पति-गृह भेजना, दुष्यन्त द्वारा उसका परित्याग तथा कुछ समय बाद उनके पुर्नमिलन से सम्बद्ध घटनाएं महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से ली गई हैं। किंतु, इन घटनाओं को नाटकीय सौंदर्य से अनुप्राणित करने के लिए कल्पना का आश्रय भी लिया गया है—

१. माढव्य, शारङ्गरव, शारद्वत, प्रियंवदा, अनुसूया, सानुमती आदि अनेक पात्र कवि कल्पित हैं।

२. महाभारत मे दुष्यन्त-शकुन्तला ने प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा एक-दूसरे का परिचय प्राप्त किया है, किंतु प्रस्तुत नाटक में यह कार्य शकुन्तला की

सखियों द्वारा सम्पन्न हुआ है। महाभारत की भाँति शकुन्तला ने गन्धर्व विवाह के समय शर्तें भी नहीं रखी। वस्तुत कालिदास के दुष्यन्त-शकुन्तला में एक-दूसरे के प्रति सात्विक अनुराग है, अत. वचन का प्रश्न ही नहीं उठता।

३ महाभारत में कण्व को फल लाने के लिए आश्रम से कुछ दूर गया हुआ वर्णित किया गया है, किंतु कालिदास ने उन्हें तीर्थ-यात्रा के निमित्त सुदीर्घ काल के लिए अनुपस्थित करके दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किया है।

४. महाभारत के दुष्यन्त विषयासक्ति के कारण शकुन्तला को भूल जाते हैं, किंतु कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना करके दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा की है।

५ महाभारत में शकुन्तला के पुत्र की उत्पत्ति कण्व मुनि के आश्रम में ही होती है, किंतु कालिदास ने गर्भवती शकुन्तला को पति-गृह में भेजकर भारतीय संस्कृति का निर्वाह किया है।

६ शकुन्तला द्वारा वृक्ष सिंचन, तपस्वियों द्वारा राजा दुष्यन्त से रक्षा के निमित्त आश्रम-वास की प्रार्थना, शकुन्तला के मुख पर मंडराता हुआ भ्रमर, विदूषक के मनोरंजक वार्तालाप, मुग्धा शकुन्तला के वस्त्रों का उलझना, दुष्यन्त-शकुन्तला की विरह-जनित अवस्थाएँ, दुर्वासा का शाप, विदा के समय मृग-शावक द्वारा अंचल पकड़ना, दिव्य ज्योति द्वारा शकुन्तला को उड़ा ले जाना तथा छठे व सातवें अंक की घटनाएँ पूर्णत कवि-कल्पित हैं। महाभारत में इनका संकेत नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कालिदास ने उपलब्ध कथानक में पर्याप्त परिवर्तन किए हैं। इन परिवर्तनों को अकारण नहीं कहा जा सकता, वरन् इनके द्वारा नाटक की कथावस्तु में गति आई है, पात्रों के चारित्रिक गुणों का विकास हुआ है तथा काव्यगत सरसता की अभिवृद्धि हुई है।

कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन

रस एवं कथानक के सहज विकास तथा प्रेक्षक की उत्सुकता को जाग्रत रखने के उद्देश्य से नाट्याचार्यों ने नाटककार के लिए अर्थ-प्रकृति, कार्यावस्था

तथा नाट्य-सन्धि के समुचित विधान का पालन आवश्यक माना है। 'अभि- ज्ञान शाकुन्तल' मे भी कथा-विकास के शास्त्रीय आधार को स्वीकार किया गया है।

(अ) कथानक—नाट्य-वस्तु के दो भेद होते हैं-आधिकारिक व प्रासगिक। फल-प्राप्ति से सम्बद्ध घटनाएँ आधिकारिक कथा कहलाती है तथा विभिन्न घटनाओ मे सबध स्थापित करने वाले अवातर प्रसगो को प्रासगिक कथा कहते है। प्रस्तुत नाटक मे दुष्यन्त की प्रणय गाथा आधिकारिक कथा है तथा धीवर, मातलि व इन्द्र-विषयक कथाश प्रासगिक है।

(आ) अर्थ-प्रकृतियाँ—आधिकारिक एव प्रासगिक वृत्त को पुन पाँच भागो में विभक्त किया गया है, जिन्हे अर्थ प्रकृति कहते हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य। 'बीज' नाटक के प्रारम्भ मे सकेतित वह हेतु है, जो विविध कथा प्रसगो के माध्यम से विस्तृत होता हुआ 'फल' का कारण बनता है। 'शकुन्तला नाटक' में 'बीज' की अभिव्यक्ति प्रथम अ क मे राजा दुष्यन्त के प्रति व्यक्त वैखानस की इन उक्तियो मे हुई है—(अ) 'तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र हो' (आ) 'अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार की आज्ञा देकर उसी की गृहदशा निवारने के लिए सोमतीर्थ गए हैं।' विच्छिन्न होते हुए कथानक को पुन जोडने वाला कारण 'बिन्दु' कहलाता है। मृगया के वृतात के कारण अवरुद्ध कथानक को द्वितीय अ क के मध्य मे माढव्य के प्रति कहे गए दुष्यन्त के निम्नस्थ वाक्यो से पुन गति प्राप्त होती है, अत ये 'बिन्दु' हैं—

(अ) 'अरे माढव्य तुझे आँखो का क्या फल मिला जबकि तैने देखने योग्य पदार्थो मे सबसे उत्तम को तो देखा ही नही।'

(आ) 'मैं तुझसे उस शकुन्तला के मद्दे कहता हूँ जो आश्रम की शोभा है।' आधिकारिक कथा की सहायतार्थ सम्पूर्ण नाटक मे व्याप्त वृत्त 'पताका' होता है। द्वितीय अ क से छठे अंक तक व्याप्त विदूषक माढव्य का वृतात इसके उदाहरण रूप मे लिया जा सकता है। दुर्वासा के श्राप तथा अँगूठी के प्रसग की गणना भी इसके अन्तर्गत की जा सकती है, क्योकि ये भी अप्र- त्यक्षत नाटक के सम्पूर्ण कलेवर मे प्रसरित हैं। 'पताका' के विपरीत शीघ्र ही

समाप्त हो जाने वाले कथा-प्रसंग 'प्रकरी' के अन्तर्गत आते हैं। छठे अंक का प्रवेशक (मछुए का प्रसंग) तथा उसके अनन्तर इस अंक में सानुमती अप्सरा का कथा-वृत्त, दासियों का वसंत-वर्णन तथा मातलि द्वारा माढव्य को पीड़ित करना इसी प्रकार के प्रसंग हैं। सातवें अंक में दुष्यन्त-शकुन्तला का मिलन कार्य है, जिसकी पूर्ति के लिए नाटक की सम्पूर्ण कथावस्तु का विधान हुआ है।

(इ) **कार्यावस्थाएँ** — फल प्राप्ति के निमित्त नायक-नायिका द्वारा किये गए प्रयास के विभिन्न सोपानों—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम को कार्यावस्था कहते हैं। 'आरम्भ' वह कार्यावस्था है जिसमें मूल पात्र फल प्राप्ति के लिए अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हैं। 'शकुन्तला' नाटक में दुष्यन्त की उत्सुकता इस उक्ति में प्रकट है—'अच्छा, हम उस कन्या को देखेंगे और वह हमारा भक्ति भाव महर्षि से कहेगी।' इसी प्रकार शकुन्तला की प्रणय इच्छा भी प्रथम अंक में ही इस रूप में व्यक्त हुई है—'इस पुरुष को देख क्यों मेरे मन में ऐसी बात उपजती है जो तपोवन के योग्य नहीं।' 'आरम्भ' के अनन्तर फल की प्राप्ति के लिए जो उपाय किया जाए वह 'प्रयत्न' कहलाता है। द्वितीय अंक में पद संख्या ४६ से लेकर तीसरे अंक की समाप्ति तक मिलन का प्रयत्न होने के कारण इसी कार्यावस्था का प्रसार है। 'प्राप्त्याशा' की स्थिति में फल प्राप्ति की आशा तो होती है, किंतु विघ्न की आशंका के कारण ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। प्रस्तुत नाटक के चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व द्वारा दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम विवाह के अनुमोदन में 'प्राप्त्याशा' की स्थिति है, किंतु दुर्वासा के शाप के कारण ऐकान्तिक निश्चय नहीं है। 'नियताप्ति' के अन्तर्गत विघ्न का विनाश हो जाने के कारण कार्य सिद्धि का निश्चय हो जाता है। छठे अंक के प्रवेशक में मछुए द्वारा प्रणय की स्मृति रूप अंगूठी प्राप्त हो जाने के कारण नायक नायिका के मिलन का निश्चय हो जाता है, अतः वहाँ 'नियताप्ति' है। कार्य की पूर्ण सिद्धि 'फलागम' है—'शकुन्तला नाटक' के अन्तिम अंक में कश्यप मुनि की निम्नस्थ उक्ति में पुनर्मिलन-रूपी फल-प्राप्ति की ओर संकेत है—

'नारि सती सुत शुद्ध कुल, तुम राजन सिरमौर।
श्रद्धा विधि अरु वित्त सम, मिले धन्य इक ठौर॥'

नाट्य-सन्धियाँ—अर्थ-प्रकृति और कार्यावस्था की भाँति नाटक मे 'सन्धि' का निर्वाह भी आवश्यक माना गया है। नाट्य सन्धि सर्वथा नवीन तत्व नही है, वरन् क्रमश अर्थ-प्रकृति और कार्यावस्था के पारस्परिक सम्मिश्रण का ही दूसरा नाम है। इसके द्वारा नाटक के प्रमुख तथा गौण कथा-प्रसगो मे समन्वय करने का प्रयास किया जाता है। सख्या की दृष्टि से यह पाँच प्रकार की होती हैं—मुख (बीज+प्रारम्भ), प्रतिमुख (बिन्दु+प्रयत्न), गर्भ (पताका+प्राप्त्याशा), विमर्श (प्रकरी+नियताप्ति), निर्वहण (कार्य+फलागम)। 'शकुन्तला नाटक' में प्रथम अ क के प्रारम्भ से लेकर द्वितीय अ क मे लगभग पद्य सख्या ४२ तक 'मुख' सन्धि का प्रसार है। वस्तुत इस स्थल पर शकुन्तला के सौंदर्य को देख कर दुष्यन्त के हृदय मे स्फुट उद्वेग का वर्णन है। यह वर्णन 'बीज' नामक अर्थ-प्रकृति और 'प्रारम्भ' कार्यावस्था को सग्रथित कर रहा हैं—अत यहाँ 'मुख' सन्धि है। 'प्रतिमुख' सन्धि म 'मुख' सन्धि का बीज कही लक्षित और कही अलक्षित रूप मे रह कर विकसित होता रहता है। अर्थात् इस सधि का विस्तार उन स्थलो मे होता है जहाँ नाटक के प्रमुख पात्र फल-प्राप्ति के लिए सचेष्ट दिखाई दें। द्वितीय अ क मे माढव्य के प्रति राजा दुष्यन्त की उक्ति 'अरे माढव्य, तुझे आँखो का क्या फल मिला जबकि तूने देखने योग्य पदार्थों मे सबसे उत्तम को तो देखा ही नही।' से प्रारम्भ होकर तृतीय अ क की समाप्ति तक प्रणय का विकास और दुष्यन्त-शकुन्तला का परस्पर प्रेमालाप वर्णित किय जान के कारण यहाँ 'प्रतिमुख' सधि है। जब अनायास विघ्न उपस्थित होने क कारण 'बीज' का विकास अवरुद्ध हो जाए अर्थात फल प्राप्ति गर्भस्थ (विलीन) होती हुई दिखाई दे तब 'गर्भ' नामक नाट्य सधि मानी जाती है। ऋषि दुर्वासा के शाप के कारण पति-गृह जाती हुई शकुन्तला को राजा दुष्यन्त द्वारा स्वीकार किया जाना असम्भव है, अत चतुर्थ अ क के प्रारम्भ से पाँचवें अ क के लगभग मध्य भाग तक 'गर्भ' सधि है। इसके अनन्तर धीवर द्वारा अ गूठी प्राप्त करके शकुन्तला का स्मरण हो आने से लेकर राजा दुष्यन्त के पश्चाताप (अर्थात् सम्पूर्ण छठा अ क) म 'विमर्श' सधि का प्रसार है। सातवें अ क मे 'निर्वहण' सधि है, क्योकि इस अ क मे नाटक के समस्त क्रिया-व्यापार दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन-रूपी 'कार्य' मे परिणति पा लेते हैं।

उपस्थापना की दृष्टि से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की विशेषताएँ

संस्कृत-नाटकों की एक सामान्य विशेषता यह रही है कि अक-विभाजन, पात्र-नियोजन, भाषा-व्यवहार आदि की दृष्टि से उनमें प्राय एकरूपता का निर्वाह किया गया है। प्रस्तुत नाटक भी इसका अपवाद नहीं है।

(अ) अक विभाजन—आचार्यों के अनुसार नाटक मे कम से कम पाँच तथा अधिक से अधिक दस अक होने चाहिए। इस दृष्टि से यह नाटक सात अकों म विभक्त है। प्रारम्भ मे 'प्रस्तावना' है, जिसमें सूत्रधार और नटी के वार्तालाप द्वारा पात्र की ओर सकेत करके रगमच पर उसका प्रवेश कराने के कारण यहाँ 'प्रस्तावना' के 'प्रयोगातिशय' नामक भेद को ग्रहण किया गया है। 'प्रस्तावना' के प्रारम्भ मे सूत्रधार द्वारा शिव की स्तुति-रूप म पढे गए आशीर्वादात्मक छद के माध्यम से नान्दी पाठ का विधान भी किया गया है। तीसरे व चौथे अकों के प्रारम्भ में 'विष्कम' तथा छठे अक के प्रारम्भ मे 'प्रवेशक' के माध्यम से ऐसी घटनाओं का नियोजन किया गया है, जो रगमच पर अभिनय की दृष्टि से अनावश्यक होने पर भी कथा सूत्र के निर्वाह के लिए अनिवार्य थी।

इस नाटक म कथावस्तु की अभिव्यक्ति सूच्य तथा दृश्य श्रव्य दोनो रूपों मे की गई है। पात्रों के सवाद प्राय सवश्राव्य हैं, किन्तु दुष्यन्त आदि की उक्तियों म स्वगत भाषण का भी बहुत प्रयोग हुआ है। तीसरे अक के 'विष्कभ' म आकाश भाषित की पद्धति ग्रहण की गई है। सातवें अक की समाप्ति पर राजा दुष्यन्त की उक्ति के रूप म 'भरत-वाक्य' की योजना की गई है। यद्यपि 'भरत वाक्य' नाटक के अन्त मे सभी पात्रों द्वारा सामूहिक रूप म प्राणिमात्र की कल्याण कामना से गाया जाने वाला श्लोक होता है। तथापि केवल एक पात्र दुष्यन्त की इस उक्ति म भी प्रजा का हित चिंतन होने के कारण इसे 'भरत वाक्य' मानना अनुचित नही है। प्रस्तुत प्रसग म अन्विति त्रय के सबध म विचार करना भी उचित होगा। ग्रीक विद्वान् अरस्तु ने नाटक मे काल, स्थान एव कार्यविषयक तीन प्रकार की अन्विति का निर्वाह करने का आवश्यक माना था—अर्थात् नाटक में वर्णित घटनाएँ एक ही समय म, एक ही स्थान पर घटित हो तथा उनका एक ही उद्देश्य हो।

संस्कृत नाटकों में इन अन्वितियों में से केवल कार्यान्विति का ही पालन किया गया है। इसी कारण 'शकुन्तला नाटक' की सभी घटनाएँ दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन रूपी केवल एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए घटित होती हुई कार्यान्विति का तो स्पष्ट निर्देश करती हैं, किंतु काल एवं स्थान-विषयक अन्वितियों का निर्वाह न करने के कारण यह नाटक पाश्चात्य दृष्टि से अधिक सफल नहीं है। इसमें लगभग छ वर्षों की घटनाओं का समावेश है तथा स्थान की दृष्टि से भी इसकी घटनाएँ तपोवन, राजमहल, स्वर्ग आदि विभिन्न स्थलों पर घटित हुई हैं।

(आ) पात्र नियोजन—संस्कृत नाटकों में पात्र संख्या का विचार नहीं किया जाता। वे लौकिक अथवा दिव्य, किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। 'शकुन्तला नाटक' में भी लगभग तीस पात्रों का समावेश करके इसी स्वच्छन्दता का परिचय दिया गया है। इसके अधिकांश पात्र लौकिक हैं, किंतु सानुमती अप्सरा आदि के रूप में दिव्य पात्रों की कल्पना भी की गई है।

(इ) भाषा-व्यवहार—संस्कृत के प्रायः सभी नाटकों में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है—संस्कृत तथा प्राकृत। संस्कृत में वार्तालाप केवल नायक अथवा उच्च वर्ग के पात्रों तक सीमित रहता है और निम्न श्रेणी के पात्र व स्त्री-पात्र प्राकृत का व्यवहार करते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पात्रों में भी यह भाषा-वैविध्य देखा जा सकता है। राजा दुष्यन्त, ऋषि कण्व, कश्यप, पुरोहित, कंचुकी आदि के मुख से संस्कृत में वार्तालाप कराया गया है जबकि स्त्री-पात्रों तथा जानुक, विदूषक आदि निम्न वर्गीय पात्रों ने प्राकृत भाषा का व्यवहार किया है। मूल नाटक में उपलब्ध होने वाली यह भाषा सम्बन्धी विविधता राजा लक्ष्मणसिंहकृत अनुवाद में सुलभ नहीं है, क्योंकि हिन्दी-नाटकों में इस प्रवृत्ति का आश्रय लेने की परम्परा नहीं रही। हाँ, यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने सम्वादों में गद्य और पद्य का प्रयोग करने की शैली को यथावत् अपनाया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' में चरित्र-चित्रण

नाटक को सफल रूप में प्रस्तुत करने के लिए नाटककार का चरित्र चित्रण के प्रति सजग रहना आवश्यक है। यदि केवल घटनाओं के घात-

प्रतिघात के आधार पर कथानक का विकास किया जाएगा तो उसमे कृत्रिमता और नीरसता आने का भय रहता है। अत स्वाभाविक वर्णन और प्रभावान्विति के लिए पात्रो के चारित्रिक विकास के आधार पर ही घटनाओं मे परिवर्तन करना श्रेयस्कर है। महाकवि कालिदास ने भी अपनी रचनाओ मे पात्रो के चारित्रिक गुणो का पर्याप्त उद्घाटन किया है। प्रस्तुत 'शकुन्तला नाटक' म ही लगभग तीस पात्रो की कल्पना की गई है। इनम दुष्यन्त, शकुन्तला, कण्व तथा माढव्य की गणना प्रमुख पात्रो के अन्तगत की जा सकती है तथा शेष पात्रो को गौण रूप म प्रस्तुत किया गया है। किंतु चरित्र विकास की दृष्टि से मुख्य एव गौण सभी पात्रो म निजी विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं।

शकुन्तला प्रस्तुत नाटक की नायिका के रूप में प्रस्तुत की गई है। उसकी चरित्र-रेखाओं का निर्माण प्रकृति के रमणीय अञ्चल में हुआ है। आश्रमवासिनी होने के कारण वह सरल हृदय तथा संकोचशीला है। दुष्यन्त के प्रति अनुरक्त होकर वह उसके प्रणय का सहज विश्वास करके आत्म-समर्पण कर देती है। किंतु, इसके उपरान्त नाटककार ने शकुंतला के परित्याग का वर्णन करके उसके उद्दाम प्रेम को नियन्त्रित किया है। सातवें अंक में उसका विरहिणी रूप अत्यन्त करुणापूर्ण बन गया है। प्रेम शकुन्तला के सरल हृदय की अक्षय सम्पत्ति है। उसकी प्रेम-भावना का प्रसार सृष्टि के जड-चेतन सभी पदार्थों में है। पिता, सखियाँ, राजा दुष्यन्त, आश्रम के वृक्ष-लताएँ, जीव-जन्तु आदि के प्रति उसके सात्विक अनुराग का व्यापक प्रसार देखा जा सकता है। सकोच, प्रेम और करुणा की प्रतिमूर्ति होने पर भी उसमें आत्माभिमान का अभाव नहीं है। दुष्यन्त द्वारा लाछित किये जाने पर वह कह उठती है—'हे अनारी! तू अपना-सा कुटिल हृदय सबका जानता है। तुझ-सा छलिया कौन होगा जो घास-फूस से ढके हुए की भाँति धर्म का भेस रखता है।' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शकुन्तला के चरित्र का विकास भी अत्यन्त व्यापक धरातल पर हुआ है और कवि को उसमें पर्याप्त सफलता मिली है।

महर्षि कण्व को पिता के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया गया है। आश्रम-वासी होने पर भी शकुन्तला का लालन पालन करने के कारण उनके हृदय में वात्सल्य की स्रोतस्विनी प्रवाहित है। गृहस्थियों के समान लौकिक व्यवहार में भी वे पूर्ण परिचित हैं। अन्य पिताओं के समान शकुन्तला की विदा के समय उनके हृदय में करुणा उमड पड़ती है—

'मोस बनवासीन जो, इतो सतावत मोह।
तो गेही कैसे सहैं, दुहिता प्रथम बिछोह।'

क्षमाशील प्रकृति ऋषि कण्व की अतिरिक्त विशेषता है। तीर्थ यात्रा से लौटने पर तपोबल द्वारा शकुन्तला-दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह का ज्ञान होने पर वे क्रुद्ध नहीं होते, वरन् एक उदार हृदय पिता के समान इस विवाह का अनुमोदन करके शकुन्तला को पत्नी-धर्म की शिक्षा दे कर सहर्ष पति-

गृह भेजने की व्यवस्था करते हैं। वस्तुत उनके व्यक्तित्व में आश्रम धर्म के उपयुक्त शान्त भाव की प्रधानता रही है।

माढव्य राजा दुष्यन्त का अन्तरग मित्र और विदूषक है। प्रणय विकास के प्रारम्भिक चरण म दुष्यन्त ने उससे परामर्श भी किया है। विदूषक होने के कारण उसमे इस वर्ग की सामान्य विशेषता—भोजन प्रिय—विद्यमान है। स्थान-स्थान पर उसके द्वारा प्रयुक्त खान-पान विषयक उपमाओ के मूल म यही प्रवृत्ति रही है। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र म और कोई विशेषता नही दिखाई पडती।

(आ) गौण पात्र—चरित्र चित्रण की दृष्टि से 'शकुन्तला नाटक' के गौण पात्रो म प्रियवदा, अनुसूया, शारङ्ग, शारद्वत आदि का नाम विशेष उल्लेख्य है। प्रियवदा और अनुसूया शकुन्तला की सखियाँ हैं। कालिदास ने इन दोनों के स्वभाव म पर्याप्त अन्तर दिखाया है। प्रियवदा प्रिय भाषिणी और भावुक है। शकुन्तला दुष्यन्त के प्रणय में वह विशेष रुचि लेती है और उनका शीघ्र मिलन चाहती है। इसके विपरीत अनुसूया म गाम्भीर्य है वह अपने गम्भीर वार्तालाप द्वारा राजा दुष्यन्त से शकुन्तला को सुखी रख का आश्वासन प्राप्त करने क प्रति सजग है।

शारङ्गरव एव शारद्वत की कल्पना मुनि कण्व क प्रमुख शिष्यों के रूप की गई है। इनका स्वभाव भी एक दूसरे स भिन्न है। शकुन्तला को पति गृह म पहुँचाने क अनन्तर राजा के द्वारा शकुन्तला के परित्याग के समय इन दोनो शिष्यो की उक्तियो स इनकी चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। शारङ्गरव अधीर और हठी है जबकि शारद्वत शान्त हृदय विनम्र एव गम्भीर प्रकृति का है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का परित्याग करने पर शारङ्गरव शीघ्र उत्तेजित हो कर कटु शब्दों म राजा की भर्त्सना करता है किन्तु शारद्वत इ शारङ्गरव इस बात स क्या लाभ [illegible] हम तो गुरु सन्देश [illegible] सुनाकर चुके। अब चलो।' कहकर उसे शान्त रहने का परामर्श देता है।

वस्तुत कवि कालिदास को चरित्र चित्रण म अद्भुत सफलता मिली है। उनके सभी पात्रों म वैयक्तिक विशेषताएँ उपलब्ध हैं, साथ ही, वे समाज

के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं—कण्व, कश्यप, शारङ्गरव, शारद्वत आदि तपोवासियो के प्रतिनिधि हैं, शकुन्तला, प्रियंवदा, अनुसूया आदि तरुणियाँ नारी-वर्ग की प्रतिनिधि हैं; दुष्यन्त प्रजापालक राजाओ या आदर्श है, और मित्रावसु, जानुक व सूचक राज-कर्मचारियो के प्रतिनिधि हैं। इन वर्गों की प्रमुख विशेषताएँ इनमे देखी जा सकती हैं। नाटककार की दूसरी विशेषता पात्रो के चरित्र का यथार्थ निरूपण है। यद्यपि दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्रों में आदर्शवादिता कवि का मुख्य लक्ष्य हैं, किन्तु उनके व्यक्तित्व मे अनेक दुर्बलताओं का वर्णन करके उन्हे यथार्थ से दूर नही रखा गया। वे दोनो पतन से उत्थान की ओर बढे हैं। कालिदास की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने महाभारत के निर्जीव एव अस्वाभाविक पात्रो को नवीन रूप मे कल्पित करके मनोवैज्ञानिक दृष्टि की रक्षा की है। महाभारत के निर्जीव एव कामुक दुष्यन्त को 'शकुन्तला नाटक' के छठे सर्ग मे विरही के रूप में चित्रित करके उसे सजीव रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार प्रगल्भा एव निर्भीक शकुन्तला को कालिदास ने लज्जाशीला, प्रेम-परायणा और मुग्धा के रूप मे कल्पित करके उसके चरित्र मे स्निग्धता का सचार किया है।

देशकाल तथा उद्देश्य

साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है, अत उसमे प्रासगिक रूप में समकालीन समाज की सास्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब रहता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का रचयिता भी इस दिशा में पर्याप्त सजग रहा है। उसने पात्रो की उक्तियो और विभिन्न परिस्थितियो का सयोजन करके तत्कालीन समाज का स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर दिया है। उस समय वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा थी—कण्व और कश्यप के तपोवन दूर-दूर तक विख्यात थे। राजा दुष्यन्त की उक्ति 'शान्ति क्षेत्र आश्रम यहै, पुन्नहि याके माह' से यह भी स्पष्ट है कि इन आश्रमो का वातावरण कल्याणकारी होता था। राजा प्रजा-हित मे तत्पर रहते थे। दुष्यन्त ने भी आश्रम वासियो की दुष्टो के त्रास से मुक्त करने की प्रार्थना स्वीकार की थी। राजाओ को प्रजा की आय का छठा भाग प्राप्त करने का

अधिकार था। वर्ण-व्यवस्था भी तत्कालीन समाज में विद्यमान थी। बहु-विवाह को हेय नहीं समझा जाता था। राजा दुष्यन्त इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है—अनेक रानियों का पति होने पर भी वह शकुन्तला से प्रेम करता है।

प्रस्तुत नाटक में धार्मिक अन्धविश्वासों तथा परम्पराओं का उल्लेख भी यत्र तत्र किया गया है। अनिष्ट निवारण के लिए कण्व मुनि तीर्थ यात्रा करते हैं। दुर्वासा के श्राप की कल्पना में भी एतद्विषयक अन्ध विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है। किसी व्यक्ति की सन्तान हीन मृत्यु दुर्भाग्य समझी जाती थी। समाज में शिक्षा का प्रचार था तथा ललित कलाओं के प्रति पर्याप्त रुचि थी—दुष्यन्त और शकुन्तला चित्र कला में निपुण हैं। शकुन्तला के प्रणय पत्र लिखने से यह भी स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियाँ भी अशिक्षित नहीं थीं। वस्तुतः इस प्रकार की अनेक सामाजिक विशेषताएँ 'शकुन्तला नाटक' के पृष्ठों में सहज उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत नाटक का उद्देश्य मनुष्य को त्याग और तपस्या के जीवन की ओर उन्मुख करना तथा आदर्श प्रेम का परिचय देना है। आश्रम की सहज विश्वासमयी सभ्यता ही काम्य है। तपस्या के बल पर ही उन्नति की जा सकती है। इसी प्रकार अमर्यादित वासना मनुष्य का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम उसी समय आदर्श बना सका जब वे विरहाग्नि में तप कर स्वार्थ-हीन हो गए।

शकुन्तला नाटक' की भाषा-शैली

राजा लक्ष्मण सिंह के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का प्रस्तुत अनुवाद खड़ी बोली गद्य तथा ब्रज भाषा पद्य में किया है। इसमें मूल नाटक के गद्य एवं पद्य भागों को यथावत् रूपान्तरित किया गया है। भाषा की प्रामाणिकता आद्योपान्त विद्यमान रही है। शब्द प्रयोग की दृष्टि से इसमें तत्सम शब्द (उग्र, तपाव्रत निर्विघ्न, सहृदय, आद्योपान्त, साकाचार, अनामय आदि), तद्भव शब्द (लच्छन, काज, जोबन, लगन, सुध, धीरज आदि) और स्थानीय प्रयोग (नेक, पाहुन, पाला पनासी, होले होले आदि) प्रचुर रूप में उपलब्ध हैं। पद्य भाग में तद्भव एवं स्थानीय शब्दों का कुछ आधिक्य है।

मुहावरो के प्रयोग द्वारा लाक्षणिकता का विधान भी किया गया है। इस दृष्टि से आँख न लगना, कान न धरना, आँख ठण्डी करना, लाड लडाना, पीठ ठण्डी करना आदि मुहावरे उल्लेख्य हैं। पद्य भाग मे सानुस्वार पदावली का चयन करके प्रणय कथा के अनुकूल कोमलता एव माधुर्य की सृष्टि की की गई है। यथा—

(अ) 'हिमांशु चन्दा सों कुमुदार तोसों कहत कयो।'
(आ) 'ना जानूँ का कग को, अकूर यहै कुमार।'
(इ) 'पाछे वन मे बसत हैं, लैं तरवर की छाह।'

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे नाट्य कला का चरम उत्कर्ष है। इसमे अर्थ प्रकृतियां, कार्यावस्थाओ एव नाट्य सन्धियो की दृष्टि से कथानक का सम्यक् विकास हुआ है तथा उसे अको, विष्कभों आदि म विभाजित करके व्यवस्था की रक्षा की गई है। सवादो की नाटकीयता और पात्रो का मनोवैज्ञानिक चरित्र इसकी अतिरिक्त विशेषताएँ हैं। प्रकृति और मानव का ऐसा रागात्मक सम्बन्ध अन्यत्र दुर्लभ है। रस सिद्धि की दृष्टि से नाटककार को अपूर्व सफलता मिली है। शृगार और करुण रसो के मार्मिक वणन मे वह अप्रतिम रहा है। कल्पना प्राचुर्य, भाषा लालित्य और उपमाओ क सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह नाटक सस्कृत साहित्य की बहुचर्चित कृति बना हुआ है। वस्तुत सम्पूर्ण नाट्य साहित्य मे यह नाटक अद्वितीय है—'काव्येषु नाटक रम्य तत्र रम्या शकुन्तला।' कालिदास साहित्य मे भी इसे मूर्धन्य स्थान प्राप्त है—'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्।' विश्व के महान कवि गेटे ने तो 'अभिज्ञान शाकुन्तल' म पृथ्वी और स्वर्ग दोनो के सम्मिलित सौन्दर्य की कल्पना की थी।

नाटक के पात्र

दुष्यन्त—हस्तिनापुर का पुरुबंशी राजा।
माढव्य—दुष्यन्त का सखा और विदूषक।
कण्व—तपोवन के ऋषियों का मुखिया और शकुन्तला का मुँहबोला बाप।

शारङ्गरव }
शारद्वत } कण्व के चेले।

मित्रावसु—दुष्यन्त का साला, हस्तिनापुर का कोतवाल।
कुम्भिलक—शुक्रावतार तीर्थ का धीमर अथवा मछुआ।

जानुक }
सूचक } प्यादे।

वातायन—रनवास का रखवाला।
सोमरात—राजा का पुरोहित।
करभक—दूत।
रैवतक—द्वारपाल
मातलि—इन्द्र का सारथी।
सर्वदमन—दुष्यन्त का बेटा शकुन्तला से। इसी का नाम भरत हुआ, जिससे हिन्दुस्तान 'भारतवर्ष' और 'भरतखण्ड' कहलाता है।
कश्यप—एक प्रजापति जो मरीचि का बेटा, ब्रह्मा का पोता और देव-दानवों का पिता था।
गालव—कश्यप का चेला।
शकुन्तला—विश्वामित्र की बेटी—मेनका अप्सरा के गर्भ से और कण्व मुनि की मुँहबोली पुत्री।

प्रियंवदा }
अनसूया } शकुन्तला की सहेली।

गौतमी—एक बूढी तपस्विनी।

वसुमती—दुष्यन्त की रानी।

सानुमती—एक अप्सरा, शकुन्तला की सखी।

तरलिका—वसुमती की दासी।

चतुरिका—एक दासी, जो राजा के निकट रहती थी।

वेत्रवती
प्रतिहारी } रनवास की द्वारपालनी।

परभृतिका
मधुकरिका } उद्यान रखने वाली दो युवतियां।

सुव्रता—सर्वदमन को खिलाने वाली।

अदिति—कश्यप मुनि की स्त्री, दक्ष की बेटी, ब्रह्मा की पोती।

राजा का सारथी व ढोंढी व तपस्विनी व यवनी।

शकुन्तला नाटक

।। प्रस्तावना ।।

[रंगभूमि मे ब्राह्मण आशीर्वाद देता हुआ आता है]

आदि सृष्टि इक नाम नाम इक विधिहुत वाहन।
बहुरि नाम मजमान जाति ह्वै काल बतावन ।।
एक सर्व व्यापीक श्रवन गुन जात पुकारा।
भूत प्रकृति फिर एक जनति अग जग संमारा।।
गनिये जु जीव आधार पुनि अष्टमूर्ति इनतें कहत।
शङ्कर सहाय तुम्हरी करें नितप्रति तिनही मे रहत ।।१।।

(सूत्रधार आता है)

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) अजी सिङ्गार कर चुकी हो तो आओ।

(नटी आती है)

नटी—हाँजी मैं आई, कहो कौन-सी लीला करें ?

सूत्रधार—यह सभा हमारे यशस्वी राजा विक्रमाजीत की है, बडे-बडे चतुर पण्डित इसमे विराजमान हैं, आज हमको कालिदास के बनाए अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक नये नाटक की लीला करनी है, इससे सब कोई सावधान होकर खेलो।

नटी - तुम्हारा तो प्रबन्ध ही ऐसा अच्छा है कि किसी बात मे न्यूनता न होगी।

सूत्रधार—(मुसकाकर) हे चतुरी ! अपना सिद्धान्त तो यह है—

नाटक करतब तब भलो रीझै सजन समाज।
नातर सीखेहू घने दुचित रहत इहि काज ।। २ ।।

नटी—(नम्रता से) सच है, अब क्या आज्ञा होती है।

सूत्रधार—इससे उत्तम और क्या है कि सभा के आनन्द निमित्त कुछ गान करो।

नटी—कौन-सी ऋतु का गीत गाऊँ ?

सूत्रधार—ग्रीष्म प्रभा लगी है और क्रीडा के योग्य भी है इसमें इसी ऋतु का राग गाना चाहिए। देखो—

कैसे नीके लागत हैं वासर ऋतु ग्रीष्म के
जीवन को सन्ध्या प्यारी सुख उमहति है।
सरिता सरोवर कुण्ड माँहि चलि करिवे तें
तरिवे तें देह दूनो आनन्द लहति है॥
घनी घनी छाया में बन की पवन लाग
झुकि झुकि आवे नींद कल ना गहति है।
त्रिविधि समीर बहै पाटलि सुगन्धिसनी
लागति शरीर आछी शीतलता रहति है॥३॥

नटी— सच है। (गाती है)

बसे भ्रमर चुम्बन करत।
नागकेसरि को सुमञ्जुन रहसि रहसिहि भरत॥
सिरस फूलन कान धरि बनयुवति मन को हरत।
देत शोभा परम सुन्दर सरस ऋतु लखि परत॥४॥

सूत्रधार—धन्य है अच्छा गाया। इससे सुनने वालों का चित्त एकाग्र होकर रङ्गभूमि चारों ओर चित्रालय के समान हो गई। अब कहो किस प्रकरण से सभा के सज्जनों को प्रसन्न करें।

नटी—अजी क्या अभी नहीं कह चुके हो कि अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नये नाटक की लीला करनी होगी।

सूत्रधार—हे चातुरी ! भली सुध दिलाई नहा तो मैं इस समय भूल ही गया था क्योंकि—

ल बरबस तेरो गयो मधुर गीत मुहि संग।
ज्यों राजा दुष्यन्त को लायो यहै कुरंग॥५॥

(दोनों रंगभूमि से जाते हैं।)

॥ इति प्रस्तावना ॥

अंक १

स्थान—वन

[दुष्यन्त रथ पर चढ़ा हुआ धनुषबान लिए हरिन को खेदता-खेदता सारथी-सहित आता है]

सारथी—(पहिले हरिन की ओर, फिर राजा की ओर देखकर) हे आयुष्मान !

लखि कर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर चाप ।
देखत हू खेदत मनो मृगहि पिनाकी आप ॥६॥

दुष्यन्त—हे सारथी ! यह मृग तो हमें दूर ले आया, देखो कैसा—

फिर फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत । देखन रथ पाछे जो घोरत ॥
कबहूँक डरपि बान मति लागे । पिछलो गात समेटत आगे ॥
अधखोथी मग दाभ गिरावत । थकित खुले मुखतें बिखरावत ॥
लेत कुलाँच लख्यो तुम अबही । धरत पाँव धरती जब तबही ॥७॥

(चकित होकर) अब क्या किया जाय ? मुझे तो हरिन सहज दिखलाई भी नहीं देता ।

सारथी—महाराज, अब तक धरती ऊँची-नीची थी इससे मैंने रथ रोक-रोक कर चलाया था और इसी से यह कुरंग दूर निकल आया, परन्तु अब भूमि एक-सी आई तो इसे तुरन्त ले लेंगे ।

दुष्यन्त तो अब घोड़ों की रास छोड़ो ।

सारथी—जो आज्ञा । (मानो रथ को भर-दौड़ चलाता है) महाराज देखिए—

जबहि रास ढीली मैं कीनी । तानि देह अगली इन लीनी ॥
चलत चनौती लई दबाई । चरमसिखा हू हलन न पाई ॥
देखो बढ़त इन्हे तुम आगे । रज खुरतारहु सङ्ग न लागे ॥
अब तुरङ्ग झपटत ये ऐसे । सहि न सकत मृग वेगहि जैसे ॥८॥

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर) सच है, ऐसे झपटते हैं कि इन्द्र और सूर्य के घोड़ों को जीते लेते हैं—

दीखति वस्तु रही जो छीनी। तिन अब सुरत विपुलता लीनी॥
जो दीखति हीं बीच कटी सी। सो लखात अब एक सटी-सी॥
सहज स्वभाव वक्र जा काई। सरल रूप दीखति अब सोई॥
छिन न दूर कछु छिनहू न नेरे। कारन अधिक वेग रथ केरे॥६॥

सारथी! देखो अब हम इसे गिराते हैं। (धनुष पर बाण चढ़ाता है)

(नेपथ्य मे)

हे राजा! इसे मत मारो, मत मारो, यह आश्रम का मृग है।

सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ) महाराज बान के सामने हरिन तो आया, परन्तु बीच मे तपस्वी खड़े हैं।

दुष्यन्त—(चकित सा होकर) अच्छा, तो घोड़ो को रोको।

सारथी—(रथ को ठहराता है) जो आज्ञा।

(एक तपस्वी दो चेलों समेत आता है)

तपस्वी—(बाँह उठाकर) हे क्षत्री! यह मृग आश्रम का है, मारने योग्य नही है।

नाहिन या मृग मृदुल तन लगन जोग यह बान।
ज्यो फूलन की राशि मे, उचित न धरन कृसान॥
कहाँ दीन हरिनान के अति ही कोमल प्रान।
य तेरे तीखे कहाँ सायक वज्र समान॥१०॥
ल उतारि यातेँ नृपति, भलौ चढ़ायो बान।
निरदोषिन मारक नही, यह तारन दुखियान॥११॥

दुष्यन्त—लो मैं बान उतारे लेता हूँ।

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुलदीपक! तुम्हें ऐसा ही चाहिए—

उचित तोहि भूपति यही, जन्म पौरुकुल पाय।
जनमैगो तो घर सुवन, गुनी चक्रवै आय॥१२॥

दोनो चेल—(बाँह उठाकर) तुम्हारे चक्रवर्ती पुत्र हो।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) ब्राह्मण वचन सिर माथे।

तपस्वी—हे राजा, हम यज्ञ के लिए समिधा लेने जाते हैं। आगे मालिनी

तट पर कण्व महर्षि का आश्रम दीखता है। अवकाश हो तो वहाँ चलकर सत्कार लीजिए।

होत वहाँ जब देखिहौ, आँखिन तें महाराज।
विघ्नविना तपसीन के, धर्म परायन काज॥
जानोगे नरनाह तब, तुम अपने मन माँह।
केती रक्षा करति यह, मुर्वीलाञ्छित बाह॥१३॥

दुष्यन्त—महर्षि आश्रम में हैं कि नहीं ?

तपस्वी—अपनी पुत्री शकुन्तला को अतिथि सत्कार की आज्ञा देकर उसी की ग्रहदशा निवारन के लिए सोमतीर्थ गए हैं।

दुष्यन्त—अच्छा हम उस कन्या को देखेंगे और वह हमारा भक्तिभाव महर्षि से कहेगी।

तपस्वी—सिधारिये हम भी अपने कामों को जाते हैं।

[चेलों समेत जाता है]

दुष्यन्त—हे सारथी ! घोड़े हाँको। इस पवित्र आश्रम के दर्शन करके हम अपना जन्म सफल करें।

सारथी—जो आज्ञा।

[रथ को फिर बढ़ाता है]

दुष्यन्त—(चारों ओर देखकर)—हे सारथी जो किसी ने बतलाया भी न होता तो भी यहाँ हम जान लेते कि तपोवन समीप है।

सारथी—महाराज ऐसे आपने क्या चिह्न देखे।

दुष्यन्त—क्या तुमको चिह्न नहीं दिखाई देते देखो—

रूखन तर मुनि अन्न परयो है। शुक कोटर तें यह जु गिरयो है।
कहूँ धरी चिक्कन शिल दीसें। इंगुदिफल जिनपै मुनि पीसें॥
रहे हरिन हिलि मे मनुपन तें। नेंक न चौंकत बोल सुनन तें।
सोहति रेख नदी तट बाटा। बनी टपकि जल बल्कल पाटा॥१४॥

और देखो—

पवन झकोरति है जल कूला। विटप किये जिमि उज्जल मूला॥
नव पल्लव दीखत धुंधराए। होम धुंआ जिन ऊपर छाये॥
उपवन अग्रभूमि के माहीं। कटि के दाभ रहे जहँ नाहीं॥
चलत फिरत निधरक मृगछौना। जिनके मन डर्का नेंको ना॥१५॥

सारथी—महाराज, अब मैंने भी तपोवन के चिह्न देखे।

दुष्यन्त (थोड़ी दूर चलकर)—हे सारथी, तपोवनवासियों के काम में कुछ विघ्न न पड़े, इससे रथ यहीं ठहरा दो, हम उतर लें।

सारथी—मैं रास खींचता हूँ, महाराज उतर लें।

दुष्यन्त—(उतर कर) तपस्वियों के आश्रम में विनीत भेष से जाना कहा है, इसलिए लो तुम ये लिए रहो (सारथी को धनुष और आभूषण देता है) और जब तक मैं तपोवनवासियों के दर्शन करके आऊँ तुम घोड़ों की पीठ ठण्डी कर लो।

सारथी—जो आज्ञा। (जाता है)

दुष्यन्त (घूमकर और देखकर)—यह आश्रम का द्वार है अब मैं इसमें चलता हूँ।

(सगुन देखकर)

शान्तिक्षेत्र आश्रम यहै, पुन्नहि याके माँह।
कहा यहाँ फल देहिगी फरकति मेरी बाँह॥
अचरज हू की बात न फल याको यदि होइ।
होनहार नहुँ ना रुके, जानत है सब कोइ॥ १६॥

[नेपथ्य में]

सखियो! यहाँ आओ यहाँ आओ।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) इस फुलवाड़ी के दक्खिन ओर क्या आलाप-सा सुनाई देता है मैं भी वहीं चलूँ (चारों ओर फिर कर और देखकर) अहा! ये तो तपस्वियों की कन्या हैं जो अपने-अपने बित्त अनुसार कोई छोटी, कोई बड़ी गगरी पौधे सींचने के लिये आती हैं। धन्य है कैसा मनोहर इनका दर्शन है।

या आश्रम की तियन को जैसो गात अनूप।
मिलनो वैसो कठिन है रनवासन में रूप॥
ऐसे ही वन की लता अपने गुनन प्रताप।
नित उद्यान लतान को देति लाज संताप॥१७॥

अब इस वृक्ष की छाया में खड़ा हूँगा। (खड़ा होकर देखता है)

(दो सखियों के साथ शकुन्तला घड़ा लिए आती है)

शकुन्तला—सखियो ! यहाँ आओ, यहाँ आओ।

अनसूया—हे शकुन्तला ! मैं जानती हू पिता कण्व को आश्रम के बिरवे तुझसे अधिक प्यारे होगे नही तो तुझ नई चमेली-सी कोमलाङ्गी को इनके सींचने की आज्ञा क्यो दे जाते ?

शकुन्तला—हे अनसूया, निरी पिता की आज्ञा ही नही, मेरी भी इन वृक्षो मे सहोदर का-सा स्नेह हो गया है। (पेड को पानी देती है)

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कण्व की बेटी शकुन्तला क्योकर हुई। वह ऋषि बडा अविवेकी होगा, जिसने ऐसी सुकुमारी को आश्रम-धर्म में लगाया है।

> सहज मनोहर रूप यह, तनक बनावटि नाहि।
> ताहि लगावन चहत मुनि, कठिन तपोव्रत माहि॥
> मोहि न दीखत है उचित, उनकी यहै विचार।
> मनहु कमलदलधार सो, काटत छोकर डार॥ १८॥

भला, हो सो हो, अब तो रूख की ओझल से इसे निशङ्क बातचीत करते देखूँगा। (एकान्त मे बैठता है)

शकुन्तला—हे सखी अनसूया, मेरी बल्कल की चोली प्रियवदा ने ऐसी कसकर बाँधी है कि सब अङ्ग जकडा जाता है। इसे तू ढीली कर दे।

अनसूया—अच्छा, करती हू। (चोली ढीली करती है)

प्रियवदा (हँस कर)—मुझे दोष क्यो देती है, अपने जोवन को दे जो तेरे उरोजो को पल-पल मे बढाता है।

दुष्यन्त (आप ही आप)—इसने ठीक कहा।

> ये सूक्ष्म गाठिन तें बाँधे। बल्कल बसन धरे दुहु काँधे॥
> इनमे ढके न दीखत हरे। मण्डल जुगल उरोजन केरे॥
> उमगति देह मनोहर ती की। पावति नहिं शोभा निज नीकी॥
> गुप्यो फूल सुन्दर जिमि कोई। पीरे पातन के बिच होई॥ १६॥

अथवा माना कि वल्कल वस्त्र इसके शरीर के योग्य नही हैं, फिर भी यह बात नही कि शोभा न देते हो, क्योकि—

> सरसिज लगत सुहावनो, यदपि लियौ ढकि पङ्क।
> कारी रेख कलङ्क हू, लसति कलाधर अङ्क॥

पहरे वल्कल बसन यह, लागति नीकी बाल।
कहा न भूषन होइ जो, रूप लिख्यो विधि भाल॥ २० ॥

शकुन्तला (आगे देखकर)—सखियो, देखो हवन के झोंकों से बकुल के पत्ते कैसे हिलते हैं मानों वह मुझे अंगुलियों से अपने निकट बुलाता है। मैं जाती हूँ, इसका भी मन रख आऊँ। (वृक्ष की ओर चलती है)

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला, तू छिन भर यहीं खड़ी रह।

शकुन्तला—क्यों ?

प्रियम्वदा—इसलिए, कि तेरे खड़े रहने से यह बकुल का पौधा ऐसा अच्छा लगता है मानों इससे लता लिपट रही है।

शकुन्तला—इसी से तो तेरा नाम प्रियंवदा हुआ।

दुष्यन्त (आप ही आप)—प्रियंवदा ने बात प्यारी कही परन्तु सच्ची भी कही, क्योंकि—

अधर रुचिर पल्लव नए, भुज कोमल जिमि डार।
अगन में यौवन सुभग लसत कुसुम उनहार॥ २१ ॥

अनसूया—हे सखि शकुन्तला देख यह नई चमेली जिसका नाम तैंने वनज्योत्स्ना रक्खा है, इस आम की कैसी स्वयंवर वधू बनी है। क्या तू इसे भूल गई ? (लता के निकट जाती है)

सखी, अच्छी ऋतु में ये लता वृक्ष मिले हैं। वनज्योत्स्ना तो अब नये फूलों से नवयौवना हुई और आम भी नई डालियों से उपभोग के योग्य हैं। (खड़ी हुई देखती है)

प्रियंवदा—(हँसकर) सखी अनसूया तू जानती है शकुन्तला वनज्योत्स्ना को क्यों ऐसे चाव से निहारती है।

अनसूया—न सखी मैं नहीं जानती तू बतला दे।

प्रियंवदा—इसलिए कि जैसे वनज्योत्स्ना को अपने समान वृक्ष मिल गया है मुझे भी मेरे समान वर मिले।

शकुन्तला—यह तो तू अपना मनोरथ कहती है। (पानी का घड़ा झुकाती है)

दुष्यन्त—(आप ही आप) कहीं यह ऋषि की बेटी दूसरी जाति की स्त्री से तो न हो। अब सन्देह को छोड़ूँ, क्योंकि—

भयो जु मेरो शुद्ध मन, अभिलाषी या माहि।
ब्याहन क्षत्री जोग यह, संशय नेकहु नाहि॥
होत कछू सन्देह जब, सज्जन के हिय आय।
अन्तःकरण प्रवृत्ति ही, देति ताहि निबटाय॥२२॥

परन्तु फिर भी इसकी उत्पत्ति का ठीक ठीक पता लगाऊँगा।

शकुन्तला—(घबडा कर) दई दई, पानी की बूँदो से डरा हुआ यह ढीठ भौंरा नई चमेली को छोड बार बार मेरे ही मुख पर आता है।

(भौंरे को बाधा दिखलाती है)

दुष्यन्त—(चित्त लगाकर देखता है) इसका भीकना भी अच्छा लगता है।

उत ही तें मोरति दृगन आवत अलि जिहिं ओर।
सीखति है मुग्धा मनो भय मिस भृकुटि मरोर॥ २३॥

और भी— (ईर्ष्या सी दिखला कर)

दृग चौंकत काए चलें चहुधां अङ्ग बारहिं बार लगावत तू।
लगि कानन गूँजत मन्द कछू, मनो मम की बात सुनावत तू॥
कर रोकती को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू।
हम खोजत जातिहिं पाँति मरे, धनि रे धनि भौंर कहावत तू॥ २४॥

शकुन्तला—यह ढीठ भौरा न मानेगा, यहाँ से कही अनत चलूँ।

(कटाक्ष करके दूसरी ठौर खडी होती है)

यहाँ भी पापी ने पीछा न छोडा। अब क्या करूँ सखियो इस दुष्ट से मुझे बचाओ।

दोनो सखी (मुस्कराकर)—हम बचाने वाली कौन हैं राजा दुष्यन्त की दुहाई द, वही बचावेगा क्योकि तपोवनो की रक्षा राजा के सिर होती है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह अवसर प्रगट होने का अच्छा है मुझ डर किसका है? (इतना हककर)

परन्तु इससे तो खुल जायेगा कि मैं राजा हू। अब हो सो हो, इनसे बातचीत करूँगा।

शकुन्तला—(थोडी दूर पर खडी होकर)—हाय, यहाँ आया अब कहाँ जाऊँ?

दुष्यन्त (झटपट आगे बढ़कर)—

जब लग जगपालक बसो, जग में नृप पुरुवंस।
सब विधि समरथ करन को दुष्ट जनन विध्वंस॥
तब लग ऐसो कौन जो छोड़ि सजन की रीति।
मुग्धा मुनि कन्यान में करतु कछुक अनीति॥ २५॥
[राजा को देखकर सब चकित सी होती हैं]

अनसूया—अजी यहाँ अनीति करने वाला तो कोई नहीं है। हमारी यह प्यारी सखी भौंरे ने घेरी थी इससे भय आ गई।

(शकुन्तला की ओर दीठि करती है)

दुष्यन्त—(शकुन्तला के सामने आकर) हे सुन्दरी तेरा तपोव्रत तो सफल है? (शकुन्तला लजा के सी चुप खड़ी रहती है)।

अनसूया—तुम-सरीखे पाहुने आए अब तपोव्रत क्या न सफल होगा। सखी शकुन्तला तू जा कुटी से कुछ फल फूल समेत अर्घ ले आ पाव धोने को जल तो यहाँ है। (पेड़ सींचने के घड़ों की ओर देखती है)

दुष्यन्त—तुम्हारे मीठे बोलों ही से अतिथि-सत्कार हो गया।

प्रियंवदा—तो आओ पाहुने घड़ीक इस सप्तपर्ण के नीचे घनी छाया में शीतल चबूतरे पर बैठकर विश्राम ले लो।

दुष्यन्त—तुम भी तो इस काम से थक गई होगी।

अनसूया—(हौले शकुन्तला से) अतिथि के पास बैठना हमको उचित है आओ यहाँ बैठें।

[सब बैठती हैं]

शकुन्तला—(आप ही आप) इस पुरुष को देख क्या मेरे मन में ऐसी बात उपजती है जो तपोवन के योग्य नहीं।

दुष्यन्त—(एक एक करके सब को देखता है) हे युवतियो! समान वयस और समान रूप में तुम्हारी आपस की प्रीति बड़ी अच्छी लगती है।

प्रियंवदा—(हौले-हौले अनसूया से) सखी अनसूया यह अतिथि कौन है जिसके रूप में चतुराई के साथ गम्भीरता और बोली में ऐसी मधुरता है यह तो कोई बड़ा प्रतापी जान पड़ता है।

अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ।

अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास मे आकर मेरा जो यह पूछना चाहता है कि तुम किस राजवंश के आभूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह मे व्याकुल छोड यहाँ पधारे हो ? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन मे आकर पीडित किया है ?

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन ! तू उतावला मत हो, धीरज धर, तेरे हित की अनसूया पूछ रही है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अब मैं अपने को क्या बतलाऊँ और किस भाँति इसे धोखा देकर अपने को छिपाऊँ। होमो हो, इससे यो कहूँगा (प्रगट) हे ऋषिकुमारि, पुरुवशी राजा ने मुझे राज के धर्म्म-काज सौंप रक्खे हैं, इसलिए आश्रम मे आया हूँ कि देखूँ यहाँ तपस्वियो के कामों मे कुछ विघ्न तो नहीं होता।

अनसूया—महात्मा, तुम्हारे पधारने से धर्म्मचारी सनाथ हुए।

[शकुन्तला कुछ लज्जित और मोहित-सी होती है]

दोनो सखी—(शकुन्तला और दुष्यन्त के भावों को जानकर) हे शकुन्तला, कदाचित् आज पिता जी घर होते।

शकुन्तला—(रिस-सी होकर) तो क्या होता ?

दोनो सखी—तो इस अनोखे पाहुने को प्यारी से प्यारी वस्तु देकर भी कृतार्थ करते।

शकुन्तला—चलो परे हो, तुम मन से गढकर कहती हो, मैं तुम्हारी न सुनूँगी।

दुष्यन्त—(अनसूया और प्रियंवदा से) हे युवतियो ! अब मैं भी तुम्हारी सखी का कुछ वृत्तान्त पूछता हूँ।

दोनो सखी—अजी यह भी तुम्हारा अनुग्रह है।

दुष्यन्त—कण्व महर्षि तो सदा के ब्रह्मचारी हैं, फिर यह तुम्हारी सखी उनकी बेटी कैसे हुई ?

अनसूया—अजी सुनो कुशिकवंशी एक बडा प्रतापी राजर्षि है।

दुष्यन्त—हाँ, मैंने भी सुना है।

अनसूया—उसी से हमारी सखी की उत्पत्ति जानो और कण्व जी इसके पिता इसलिए कहाते हैं कि पड़ी हुई को उठा लाये थे और उन्होंने पाली-पोसी है।

दुष्यन्त—पड़ी हुई, यह सुनकर तो मुझे अचम्भा होता है। अब इसका वृत्तान्त जड़ से सुनना चाहता हूँ।

अनसूया—अच्छा सुनो, मैं कहती हूँ। जब उस राजर्षि ने गौतमी तीर पर उग्र तप किया तो कहते हैं कि देवताओं ने कुछ शंका मान तप बिगाड़ने वाली मेनका नाम की अप्सरा उसके पास भेजी।

दुष्यन्त—सच है, देवता औरों की तपस्या से डर जाते हैं। भला फिर क्या हुआ?

अनसूया—वसन्त के आरम्भ में मेनका की उन्मादिनी छवि निरखते ही—(इतना कह लज्जित होती है)

दुष्यन्त—आगे जो कुछ हुआ हमने जान लिया। तो यह अप्सरा की बेटी है?

अनसूया—हाँ जी।

दुष्यन्त—ठीक है, नहीं तो—

कैसे ऐसे रूप की, नर तें उतपति होइ।
भूतल तें निकसति कहूँ, बिज्जुछटा की लोइ ॥ २६ ॥

[शकुन्तला सिर झुकाकर बैठती है]

(आप ही आप) मनोकामना सिद्ध होने के लच्छन तो दिखाई दिये हैं, परन्तु सखी ने वर मिलने की बात हँस कर कही थी, इससे दुविधा में पड़के मेरा मन अधीर होता है।

प्रियंवदा—(मुस्काती हुई पहले शकुन्तला को फिर राजा की ओर देख कर) कुछ और भी पूछने को मन में दीखते हैं।

[शकुन्तला अंगुली से सखी को झिड़कती है]

दुष्यन्त—तुमने भली मेरे मन की जान ली। मुझे इस अनूठे चरित के सुनने की अभी और चाह है, इसलिए कुछ पूछूँगा।

प्रियंवदा—सोच विचार मत करो। तपस्वियों से तो जो कोई चाहे निधड़क पूछ सकता है।

दुष्यन्त—मैं यह पूछता हूँ कि—

रतिराज के काज बिगारन कों, रिपु है वन को व्रत लोक कहे।
यह सुन्दरि प्यारी तिहारी सखी, रहिहै कहो को लग ताहि सहे॥
तजि देहिगी ब्याह भये पै किधौं, जब पीतम आइके बाँह गहे।
अपने से किधौं दृगवारी मृगीन मे, जन्म बितावत यों ही रहे॥ २७॥

प्रियंवदा—अजी ब्याह की क्या चलाइ, हमारी सखी तो धर्म-कर्म मे भी पराये वस है तिस पर भी पिता का संकल्प है कि समान वर मिले तो इसे ब्याहें।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह संकल्प पूरा होना तो कुछ कठिन नही है।

रे मन तजि अब सोग, दूर भयो सन्देह सब।
कढ्यो धरन तन योग, रतन जो मैं जान्यो अनल॥ २८॥

शकुन्तला—(रिस-सी होकर) ले अनसूया मैं तो जाती हू।

अनसूया—क्यो जाती है?

शकुन्तला—मैं गौतम से जाकर कहूँगी कि प्रियंवदा मुझसे अनकहनी बात कहती है।

अनसूया—हे सखी, यह तो उचित नहीं है कि तू ऐसे अनोखे पाहुने को बिना सत्कार किये छोड जाय।

[शकुन्तला बिना उत्तर दिये चलने को होती है]

दुष्यन्त—(रोकने को उठता है, परन्तु आप ही आप रुक जाता है) अहा! कामी मनुष्यों के मन की बात बाहर के चिह्नों से प्रगट हो जाता है।

मैं पीछे मुनि धीय के, चह्यो चलन करि चाव।
मर्यादा आडी भई, आगे दियो न पाव॥
आसन तें न उठ्यौ तबहु, ऐसी मोहि लखात।
मानो बैठ्यो आय फिर, चलि के हाथ छ सात॥ २९॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोक कर) सखी यहाँ से जाने न पावेगी।

शकुन्तला—(भौंह चढ़ाकर) क्यो?

प्रियंवदा—क्यो, अभी मुझे दो पौधे सींचने को और रहे हैं। इस ऋण को चुका दे तब चली जाना। (घराती हुई को बल कर रोकती है)

दुष्यन्त—वृक्ष सींचने से ही तुम्हारी सखी थकी-सी दीखती है, क्योंकि—

> झुकि कन्ध रहे लिये गागरिया, भई लाल हथेरी दुहू कर की।
> उचके कुच जानि परे अजहू, बढ़ि स्वास गई छतिया धरकी॥
> मुख छाय पसीनन बूंद रहीं, न हिले न झुवे फुलवा तरकी।
> कर एक लिये बिथुरी अलकें, खुलि जूरे की गाँठि तरे सरकी॥३०॥

इसलिए लो यह ऋण मुझे यों चुकाने दो—(अंगूठी देना चाहता है)

[दुष्यन्त का नाम अंगूठी पर बाँच कर दोनों एक दूसरे की ओर निहारती हैं]

दुष्यन्त—इसके लेने में तुम यह सङ्कोच मत करो कि यह राजा की वस्तु है, क्योंकि मैं भी तो राजपुरुष हूं, मुझे यह राजा ही से मिली है।

प्रियंवदा—तो महात्मा इसे अपनी अंगुली से न्यारी मत करो। तुम्हारे कहने ही से ऋण चुक गया। (मुसका कर) सखी शकुन्तला इस महात्मा ने अथवा महाराज ने दया करके तुझे ऋण से छुड़ा दिया, अब तू चली जा।

शकुन्तला—(आप ही आप) जो अपने ही वश में रही तो। (प्रगट) जाने की आज्ञा देने वाली अथवा रोकने वाली तू कौन है?

दुष्यन्त—(शकुन्तला की ओर देखकर आप ही आप) जैसा मेरा मन इसमें उलझा है क्या इसका भी ऐसा ही मुझ में लगा है? हो कि न हो, मनोरथ सिद्ध होने के लच्छन तो दीखत हैं क्योंकि—

> यदपि मिलावति नहिं यह मो बातन में बात।
> कान धरति इतही तऊ, जब मैं कछु बतरात॥
> होति न ठाडी आय के, मेरे सन्मुख बाल।
> तदपि न दूजी ओर कहूँ फेरति दीठि रसाल॥३१॥

(नेपथ्य में) हे तपस्वियो! आओ आश्रम के जीवों की रक्षा करो, मृगया-विहारी राजा दुष्यन्त निकट आ पहुँचा, देखो—

गीले वल्कल वसन ये, तपसिन डारे लाय।
आश्रम के जिन तरुन पै, डारन ते लटकाय॥
तिनके ऊपर परति है, उडि-उडि रज खुरतार।
मानों टीढी दल गिरत, साँझ अरुण की वार॥३२॥

और देखो—
रथ देखि मतंग डर्‌यो वन को, यह माँहिं तपोवन आवत है।
पग लगर वेलि बनाय मना, हरिनान के झुंड भगावत है॥
तप को बनि मूरति विघ्न विधी, वल्सो तरु तोरत धावत है।
मुख मोरि निहारत पाछें जनै, रद बन्ध सा एक लगावत है॥३३॥

[ऋषिकुमारी कान लगाकर सुनती है और चौंकती है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) अरे पुरवासियो! धिक्कार है तुमको कि तुमने मुझे ढूंढते ढूंढते यहाँ आकर तपोवन म विघ्न डाला। अब मुझे इनके पास से जाना पड़ा।

दोनो सखी—अजी अब तो हम इस कुलाहल म घबड़ाती हैं, आज्ञा दो तो अपनी कुटी को जायें।

दुष्यन्त—(वेग वेग) तुम जाओ, मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे तपोवन मे विघ्न न होने पावे। (सब उठती हैं)

दोनो सखी—हे महात्मा, जैसा अतिथि-सत्कार होना चाहिए हम से नहीं बना, इसलिए हम यह कहत लजाती है कि कभी फिर भी दर्शन देना।

दुष्यन्त—नहीं-नहीं यह बात नहीं है तुम्हारे देखने ही से हमारा सत्कार हो गया।

शकुन्तला—हे अनसूया, एक तो मेरे पाँव में नई दाभ की अनी लगी है, दूसरे कुरै की डाल मे अम्चल उलझा है, नेंक ठहरो तो मैं इनसे निबट लूँ।

(दुष्यन्त ही की ओर देखती हुई और मिस करके ठिठकती हुई सखियों समेत जाती है)

दुष्यन्त—अब मुझे नगर की ओर जाने की तो चाह रही नहीं, इसलिए साथ वालों का डेरा तपोवन के निकट ही लगाऊँगा। शकुन्तला के प्रेम व्यवहार से मैं अपना छुटकारा नहीं देखता।

तन तौ आगे चलत है, मन नहिं संग लगात।
उड़त पताका पाट ज्यों, मारुत सौंही जात ॥३४॥

[सब जाते हैं]

॥ पहला अङ्क समाप्त हुआ ॥

अंक २

स्थान—बन के समीप राजा का डेरा

(उदास रूप में माढव्य आता है)

माढव्य – (ऊँची श्वास लेकर) इस मृगयाशील राजा की मित्रता से हाय हम तो बड़े दुखी हैं। दुपहरी में यह मृग आया, वह वाराह गया, उधर शार्दूल जाता है यही कहते इस वन से उसमें, उससे इसमें भागना पड़ता है। ग्रीष्म में कहीं वृक्ष की छाया भी इतनी नहीं मिलती, जहाँ कुछ विश्राम लिया जाय। पहाड़ की नदियों में वृक्षों के पत्ते गिर-गिर कर सड़ गये हैं। प्यास लगे तो उन्हीं का वेस्वाद पानी पीना पड़ता है और खाने को बहुधा शूल पर भुना हुआ माँस मिलता है, सो भी कुसमय। घोड़े के साथ दौड़ते-दौड़ते देह ऐसी शिथिल हो जाती है कि रात में भी सोना नहीं मिलता और जो कुछ नींद आई भी तो बड़े तड़के ही दासी–जाये चिडीमार, चलो वन को, चलो वन को, यह चिल्ला-चिल्ला कर मुझे जगा देते हैं। यह दुःख तो थे ही तब तक घाव में नया घाव और लगा कि कल हमसे बिछुड़ कर राजा मृग के पीछे चलता-चलता तपस्वियों के आश्रम में पहुँचा। वहाँ मेरे अभाग्य से उसकी दृष्टि एक तपस्वी की कन्या पर, जिसका नाम शकुन्तला है, पड़ गई। अब नगर को लौटना कैसा ! उसी के सोच में आज रात भर स्वामी की आँख नहीं लगी। अब क्या किया जाय ? जब तक राजा को नित्य कर्म करता हुआ न देख लूँगा, न जानूँ क्या गति मेरी होगी ? (घूमता और देखता है) सखा तो वह आता है और वन के फूलों की माला पहने हुए धनुषधारी यवनी भी साथ हैं। आता तो इधर ही है, अब मैं भी अङ्ग-भङ्ग करके खड़ा हो जाऊँ (लाठी टेक कर खड़ा होता है) चलो यों ही विश्राम सही।

(ऊपर कही हुई स्त्रियों सहित दुष्यन्त आता है)

दुष्यन्त—प्रिया मिलन दुर्लभ तऊ लखि लखि वाके भाव ।
मेरे हिय उपजत खरो, मिलन ही को चाव ॥
पूरा यदपि भया रहा मन चीत्यो रति नाह ।
पै मगम सुख लेन को रही दुहुन चित चाह ॥३८॥

(मुसका कर) जब किमी का किमी से प्रीति हो और वह अपने मन की चाह से उनके मन की चाह का अनुमान कर तो ऐसा ही धोखा खाता है ।

यदपि निहारि और ही ओरी । प्रेम दीठि प्यारी न मोरी ।
मद चली यदि भार नितम्बा । मनहूँ ललित गति करति बिलम्बा ॥
मारग रोकि सखी जब टोको । करकि ताहि रिस सौं यदि टोका ।
मरेहि काज किया सब जान । अहा कामि स्वारथ पहिचाने ॥३६॥

माढव्य—(जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा है) हे मित्र ! मेरे हाथ नहीं उठते इसलिए वचनों ही से आशीर्वाद देता हूँ । तुम्हारी जय रहे ।

दुष्यन्त—कहा क्या ! तुम्हारा अंग भंग क्यों हुआ ?

माढव्य—अपनी अँगुली में आँख दुखा कर आप ही पूछते हो कि आँसू क्यों आए ?

दुष्यन्त—हम नहीं समझे, अब फिर समझा कर कहो ।

माढव्य—देखो यह बेंत कुब्जा की होड़ करता है सो अपनी चाल से करता है अथवा नदी प्रवाह से ।

दुष्यन्त—नदी के प्रवाह से हुआ है ।

माढव्य—ऐसे ही मेरे अंग भंग के भी तुम्हीं कारण हो ।

दुष्यन्त—क्योंकर ।

माढव्य—तुम तो सब राजकाज छोड़ इस भयंकर वन में बसकर अहेरिया के काम करते परन्तु मैं सत्य ही कहता हूँ कि जंगली पशुओं के पीछे दिन प्रतिदिन आवत जावत मेरे अंग जोड़ हिल गए हैं । इसलिए दया करके मुझे एक दिन तो विश्राम लेने को छोड़ जाओ ।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह यों तो कहता है उधर मेरा चित्त भी ऋषिकुमारी की सुध में आखेट से निरुत्साह हो गया है क्योंकि—

शर चढ़ाय यह चाप, तानि सकतु नहिं मृगन पै।
जिन सिखई प्रिय आप, भोरी चितवनि नग बसि ॥३७॥

माढव्य—(राजा के मुख की ओर देखकर) तुम्हारे मन में जाने क्या है, मेरी बात तो ऐसी हो गई जैसे बन में रोना।

दुष्यन्त—(मुसका कर) मेरे मन में यही है कि अपने सखा की बात मानूँ।

माढव्य—तुम्हारी बड़ी आयु हो। (उठकर चलना चाहता है)

दुष्यन्त—मित्र, ठहर अभी हमको कुछ और कहना है सो सुन ले।

माढव्य—कहिये।

दुष्यन्त जब तू विश्राम कर चुके तब हम एक ऐसे काम में तुझसे सहायता लेंगे जिसमें कुछ दौड़ना-भागना न पड़ेगा।

माढव्य—क्या लड्डू खिलवाओगे।

दुष्यन्त—अभी कहता हूँ।

माढव्य कहिये, अब अच्छा अवसर है।

दुष्यन्त कोई यहाँ है।

(द्वारपाल आता है)

द्वारपाल—स्वामी की क्या आज्ञा है।

दुष्यन्त—रैवतक तुम सेनापति को बुला लाओ।

द्वारपाल—बहुत अच्छा (बाहर जाकर सेनापति सहित आता है) आओ, महाराज कुछ आज्ञा देने के लिए तुम्हारी बाट देखते हैं।

सेनापति—(दुष्यन्त की ओर देखकर) मृगया को दोष तो देते हैं, परन्तु हमारे स्वामी को तो गुणदायक सिद्ध हुई।

नरपति देह अधिक बलशाला। दीरघ गिरिचर नाग समाना।
भए क्रूर अगले अंग जाके। सींचत बार बार धनवा के॥
व्यापत श्रम न पसीना लावे। धूप लगत कछु खेद न पावे।
भई यदपि नेसुक दुबराई। बड़ डील नहिं देति दिखाई॥३८॥

(राजा के निकट जाकर) स्वामी की जय हो। महाराज, वन में आखेटी पशुओं के खोज देखे गए हैं, आप कैसे बैठे हैं।

---

१ यहाँ 'आयुर्बल' से अभिप्राय है।

दुष्यन्त—इस माढव्य ने निंदा करके मृगया में मेरा उत्साह मन्दा कर दिया है।

सेनापति—(हौले, माढव्य से) सखा तू अपनी बात पर बना रह, मैं ठकुरसुहाती कहूँगा (प्रगट) महाराज इसको बकने दीजिये, आप इसमें तो आप ही प्रमाण हैं कि मृगया में कितने गुण होते हैं।

चकु मद घटे श्रद तुंद घट, छटिक तन धावन जोग बन।
चितवृत्ति पशून की जानि परे भय क्रोध में रहत पलन घन॥
अति कीरति है धनुधारिन की चलता यदि बान तें बेधा हून।
मृगयातें भलो न विनोद कोई ताहि दूषन माहिं वृथाही गन॥३६॥

माढव्य—(रिस से) अरे राजा ने तो मृगया छोड़ दी। तुझे क्या हुआ है जो ऐसी बातें कहकर फिर उत्साह दिलाता है। तू वन में बहुत दौड़ता फिरता है। कहीं मनुष्य की नाक के लोभी किसी बूढ़े रीछ के मुँह में न पड़ जाय।

दुष्यन्त—हे सेनापति! यह आश्रम के समीप है, इसलिए हम आखेट की बड़ाई करने में तुम्हारे पक्ष नहीं ले सकते। आज तो—

भैंसन देहु करन रंगरली। ताल पत्रारि कुण्ड बिच केली।
हरिन यूथ रूखन तर आवें। बैठ जुगार करत सुख पावें॥
शूकर वृन्द न्हरे में जाई। मोद निडर मोथा जर खाई।
शिथिल प्रत्यंचा धनुष हमारी। आज त्याग श्रम होइ सुखारी॥४०॥

सेनापति—जो इच्छा महाराज की।

दुष्यन्त—आगे जो आखेटी लोग बढ़ गये हैं उन्हें लौटा लो और सेना वालों को बरज दो कि तपोवन में कुछ विघ्न न डालें क्योंकि—

शान्तिभाव तपसीन में यद्यपि होत प्रधान।
गुप्ततेज राखत तऊ अन्तर अग्नि समान॥
ज्यों शीतल रवि कान्तमणि छूवत करति न दाह।
भानु तेज तें नाम लहि उगलति ज्वाल प्रवाह॥४१॥

सेनापति—जो आज्ञा स्वामी की।

माढव्य—चल जा दासी जाए, तेरा उत्साह दिलाना निष्फल हुआ।

[सेनापति जाता है]

दुष्यन्त—(दासियों की ओर देखकर) तुम भी अपना आखेट भेष उतार डालो, और हे रैवतक ! तू अपने काम पर सावधान रह ।

सब सेवक—जो आज्ञा महाराज की। (सब जाते हैं)

माढव्य—इन मक्खियों को तो तुमने भला यहाँ से दूर किया। अब सुन्दर वृक्षा की छाया म इस शिला पर बैठिये। मैं भी सुख से विश्राम लूँगा।

दुष्यन्त—आगे तू ही चल।

माढव्य—आइये।

[दोनों जाकर बैठते हैं]

दुष्यन्त अरे माढव्य तुझे आखों का क्या फल मिला जबकि तैंने देखने योग्य पदार्थों म सबस उत्तम को तो देखा ही नही।

माढव्य—क्या मेरे सामने महाराज नित्य नही रहते।

दुष्यन्त—अरे अपने को तो सभी अच्छा जानते हैं परन्तु मैं तुझसे उस शकुंतला के मद्धे कहता हू जो आश्रम की शोभा है।

माढव्य—(आप ही आप) मैं इसको इस विषय मे कुछ कहने का अवसर न दूँगा। (प्रगट) हे मित्र ! जो वह तपस्वी की बेटी है तो तुम्हारे व्याहने योग्य नही फिर उसके दखने स क्या प्रयोजन।

दुष्यन्त—हे सखा पुरुवंशियों का मन अयोग्य वस्तु पर कभी नही जाता।

मुनि दुहिता है नाम को जनी अप्सरा माय।
जनतहि जननी छोडि कें गई बिना पय प्याय ॥
गई बिना पय प्याय भूमि पै डारि अकेली।
परी डार तें छूटि आक प मनहु चमली ॥
मुनि निकसे तहँ आय गोद लै लीनी सुहिता।
पाली पिता कहाय नाम याते मुनि दुहिता ॥४२॥

माढव्य—(हँस कर) जैसे किसी की रुचि छुहारों मे हट कर अमली पर लगे तुम रनवास के स्त्री रत्नो को छोड उस पर आसक्त हुए हो।

दुष्यन्त—हे सखा ! जो तू उस एक बेर देख ले तो फिर ऐसा न कहे।

माढव्य—जब तुमको भी उसके दखन से अचम्भा हुआ है तो वह निस्सन्देह रूपवती होगी।

दुष्यन्त—(मुसका कर) बहुत क्या कहूं।

पहले लिखि चित्र के माँहि किधौं चाहि प्राण मधार विरच दयो।
धरिक सुखमा चित क गहा एक रूप अनूप बनाय लयो।।
जब सोचत हूं विधि की बात मैं मरु या तिय कौ रङ्ग-ढङ्ग ठयो।
तब भावति है मनमाँहि यही कमला को नयो अवतार भयो।।४३।।

माढव्य—जो ऐसी है तो उसने आगे सब रूपवती निरादर हैं।

दुष्यन्त—मेरे चित्त में तो ऐसा ही है।

वह तो निरदोषित रूप तिया बिन सूंघ्यो मनो कोई फूल नयो।
नवपल्लव कै नखहू न लग्यो कोई रत्न किधौं ना विंध्यो न गयो।।
फल पुन्नन को है अखंड किधौं मधु है सद कै बिन स्वाद लयो।
विधना मत मोहि न जानि परै ताहि चाहत कौन के भागि दयो।।४४।।

माढव्य—तो तुम उसे वेग ब्याह ला नहीं तो अवलम्ब पुन का फल किसी हिंगोट का तेल लगा हुए चिकने सिर वाले जोगी के हाथ पड़ जायगा।

दुष्यन्त—मित्र वह परवश है और उसका पिता घर नहीं है।

माढव्य—भला तुम में उसका अनुराग कैसा जान पड़ा।

दुष्यन्त—सुन तपस्वियों की कन्या स्वभाव की सकुचौंही होती हैं तो भी—

मेरे सनमुख होत ही फेरी दीठि सुजान।
फिर काहू मिस ते करी मधुर मधुर मुसकान।।
प्रगट प्रीति नहिं कर सकी अधिक सताई लाज।
तोहू गुप्त रह्यो नहीं मदनदेव को काज।।४५।।

माढव्य—और क्या देखते ही तुम्हारी गोद में आ बैठती?

दुष्यन्त—फिर जब चलने लगी तो लाज में भी उस सुन्दरी का प्रीति भाव मुझको दिखाई दिया।

चलि अबला कछु दूर लों ठहरि गई मग माँहि।
कहत दाभ काँटो लग्यो यदपि दाभ तहँ नाँहि।।
उरझ्यो काहू रूख में बहूं न वल्कल चीर।
सुरझावन के मिस तऊ ठिठकी मोरि शरीर।।४६।।

माढव्य—तो अब यहा खाने पीने की सामग्री इकट्ठी कर लो क्योंकि मैं देखता हू तुमने तपोवन को उपवन बना लिया।

दुष्यन्त—हे सखा ! किसी किसी तपस्वी ने मुझे पहचान लिया है अब विचार तो किस मिस स फिर आश्रम मे जाऊँ।

माढव्य—और क्या मिस चाहिए तुम तो राजा हो।

दुष्यन्त—राजा हैं तो क्या ?

माढव्य—तपस्वियो स कहो कि वन के अन्न स हमारा छठा भाग लाओ।

दुष्यन्त—हे मूर्ख ! ये तपस्वी तो हमको और ही भाग ऐसा देते हैं जिसके आगे रत्नो का ढेर भी तुच्छ है। देख—

और वर्ण ते उत नृप सो धन विनसन जोग।
छठो अंश तप को अमर देत जु तपसी लोग ॥ ४७ ॥

(नेपथ्य मे)—अहा हमारा तो मनोरथ सिद्ध हो गया।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) यह तो धीर शान्त बोल तपस्वियो का सा है।

[द्वारपाल आता है]

द्वारपाल—स्वामी जी की जय हो ! हे देव दो ऋषि कुमार द्वार पर आये हैं।

दुष्यन्त—तुरन्त लाओ।

द्वारपाल—अभी लाता हू (बाहर जाता है और ऋषिकुमारों को साथ लिये फिर आता है) इधर आओ इधर आओ।

[दोनों राजा की ओर देखते हैं]

पहला ऋषिकुमार—अहा ! इस राजा का शरीर यद्यपि जाज्वल्यमान है परन्तु हमको फिर भी इसमें अत्यन्त विश्वास होता है। क्या न हो यह भी तो ऋषियो ही की भाँति रहता है।

त्यागि नगर याहू ने कीनो। आश्रम आय वास अब लीनों।
करि पालन परजा अपनी को। संचय करत यह तप ही को ॥
ऋषि पदवी पावन प्रति नीकी। पहुची सुरपुर याहू जती की।
चारन द्वै द्वै ताहि गहैं गावें। आगे राज शब्द इम लावें ॥ ४८ ॥

दूसरा—हे गौतम क्या यही इन्द्र को सखा दुष्यन्त है ?

पहला—हाँ वही है।

दूसरा—इसी से—

सागर श्याम वारिनिधि जाको। ता भूमि को गौतम एकाको ॥
तौ अचरज याम कछु नाहीं। नगर द्वार अरगल सम बाही ॥
जात एक चढ़ि सनवा में। दूजे कठिन वज्र मघवा में ॥
धरत प्रान सब देव समाना। असुरन को रन जीतन काजा ॥४९॥

दोनों (राजा के निकट जाकर) महाराज की जय हो !

दुष्यन्त—(आसन से उठकर) तुम दोनों को प्रणाम है।

दोनों — (फल भेंट करते हैं) तुम्हारा कल्याण हो।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके भेंट लेता है) क्या आज्ञा है ?

दोनों—महाराज आश्रमवासियों ने यह जानकर कि तुम यहीं ठहरे हो कुछ प्रार्थना की है।

दुष्यन्त—क्या कृपा की है ?

दोनों—हमारे गुरु कण्व ऋषि यहाँ नहीं हैं इससे राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न डालते हैं सो तुम सारथि समेत कछु रात इस आश्रम को सनाथ करो।

दुष्यन्त—यह तो मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया है।

माढव्य—(सैन देकर) अब तो मनोकामना पूरी हुई।

दुष्यन्त—(मुसक्याकर) रैवतक तू सारथी को आज्ञा दे कि रथ लावे और मेरा धनुषबाण भी लेता आवे।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (बाहर जाता है)

दोनों—(हर्ष से)

पुरुषनि और पुरानन को करत तिनहिं के काज।
उचित तुम्हें यह [illegible] धर्मध्वज महाराज ॥
भरतापित दुखियान को देन अभय को दान।
नित कङ्कन बाँधे रहत [illegible] जजमान ॥५०॥

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) तुम चलो मैं भी तुम्हारे पीछे आया।

दोनों—सदा जय रहे। [दोनों जाते हैं]

दुष्यन्त—माढव्य, क्या तेरे मन मे भी शकुन्तला देखने की चाह है ।

माढव्य—पहले तो वही उमग थी, परन्तु जब से राक्षसो का नाम सुना तब से नही रही ।

दुष्यन्त—डरता क्यों है, हमारे पास रहना ।

माढव्य—तो मैं तुम्हारा चक्ररक्षित बनूँगा ।

[द्वारपाल आता है]

द्वारपाल—महाराज, रथ आ गया और माँ जी की कुछ आज्ञा लेकर करभक दूत भी नगर से आया है ।

दुष्यन्त—(सत्कार करके) क्या माता का पठाया आया है ।

द्वारपाल—हाँ, प्रभु ।

दुष्यन्त—तो उसे लाओ ।

द्वारपाल—जो आज्ञा (बाहर जाता है और फिर करभक समेत आता है) महाराज इधर हैं, सम्मुख जा ।

करभक—स्वामी की जय हो । हे देव माँ जी ने आज्ञा दी है कि आज से चौथे दिन पुत्र पिण्डपालन उपास होगा । उस समय तुम चिरञ्जीव भी अवश्य आकर हमको प्रसन्न करना ।

दुष्यन्त—इधर तो तपस्वियो का काम, उधर बडो की आज्ञा, इनमे से कोई उल्लघन योग्य नही है । अब क्या करना चाहिए ?

माढव्य—(हँस कर) अब त्रिशकु बन कर यही ठहरे रहे ।

दुष्यन्त—इस समय मैं सचमुच व्यग्र हू ।

दूर दूर पै काज द्वै, परे एक सग आय ।
इकन जोग न एकहू, इनमे परत लखाय ॥
याही तें मेरो हियो, सोचत भयो अधीर ।
मनहु शिला तें रुकि बह्यो, द्वैधा सरिता नीर ॥५१॥

(सोच कर) हे सखा ! तुमने भी तो माँ जी पुत्र कहकर बोली हैं, इससे तू ही नगर को जा और हमारी ओर से माँ जी से यह कहकर कि हमको तपस्वियों का कारज करना आवश्यक है तू वही काम कीजो जो पुत्र करता है ।

माढव्य—यह तो सब करूँगा, परन्तु तुम यहीं ऐसा तो नहीं समझ कि मैं राक्षसों से डर गया।

दुष्यन्त—(मुस्काकर) नहीं-नहीं तू तो बड़ा ब्राह्मण है, ऐसा हम क्यों समझेंगे।

माढव्य—तो अब मुझे राजा के छोटे भाई की भाँति जाना चाहिए।

दुष्यन्त—हाँ, इसीलिए यह सब भीड़-भाड़ भी तेरे साथ भेजता हूं। तपोवन से विघ्न का दूर रहना ही अच्छा है।

माढव्य—(ऊँचा सिर करके) तो मैं अब युवराज हो गया।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह बड़ा चपल है, कहीं हमारी लगन का वृत्तान्त रनवास में न जा कहे, इसलिए इससे यो कहूँ (माढव्य का हाथ पकड़ कर, प्रगट) हे मित्र! मैं केवल ऋषियों का बड़प्पन रखने इस तपोवन मे जाता हूं, यह तू निश्चय जान कि तपस्वी की कन्या शकुन्तला में मेरी चाह नहीं है। भला देख तो—

कहँ हम अरु यह तिय कहाँ, पली जु हरिनिन सङ्ग।
जानति है दुखिया कहा, कैसो मदन प्रसङ्ग॥
मैं तोसों बाती कछू कही सखा बतरानि।
सो हाँसी की बात ही साँच न लीजो मानि॥२२॥

माढव्य—सत्य है।

(सब जाते हैं)

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥

○

तीसरे अंक का विष्कम्भ

स्थान तपोवन

[ऋत्विज ब्राह्मण का शिष्य हाथ मे कुश लिये आता है]

शिष्य—अहा ! दुष्यन्त बडा प्रतापी राजा है जिसके चरण वन मे आते ही हमारे सब धर्म काय निर्विघ्न होने लगे।

बान चढावन का कहा करि मुरवी टङ्कार।
हरत दूर ही तें विघन मनहुँ चाप हुङ्कार ।।५३।।

अब चलूँ वेदी पर बिछाने के लिए य दाभ मुझ ऋत्विज ब्राह्मण को देने हैं (फिर कर और इधर उधर देख कर) हे प्रियवदा ! तू किसके लिए उसीर का लेप और नाल सहित कमल के पत्ते लिए जाती है। (कान लगा कर) क्या कहा ? धूप लगने की ठण्डाई लिए जाती हूँ। अच्छा तो जा, बहुत जतन से उपाय करना क्योंकि वह कन्या गुरु कण्व का प्राण है मैं भी अभी गौतमी के हाथ यज्ञ मन्त्र का शान्ति जल भजता हू। (जाता है)

॥ इति विष्कम्भ ॥

○

अंक ३

[आसक्त मनुष्यों की सी दशा में दुष्यन्त आता है ।]

दुष्यन्त—(ऊँची श्वास लेकर)

जानत हूं तपबल बडो, अरु परबस वह तीय ।
तदपि न वासों हटि सके, मेरो व्याकुल हीय ॥
फिरत न पाछे नीर ज्यों भूमि निमानी जाय ।
सो गति मो मन की भई, कीजै कौन उपाय ॥५४॥

हे कुसुमायुध ! तू और चन्द्रमा हम प्रेमीजनों को विश्वासघाती हो ।

हिमांशु चन्दा सो कुसुमशर तोसों कहत बचा ।
नहीं साचे दोऊ इन गुनन मोसे जनन का ॥
ससी छोड़े ज्वाला वह किरिन पाला सङ्ग धरी ।
तुहू वज्राकारी निज सुमन के बानन करे ॥५५॥

हे कन्दर्प ! तुझे मेरे ऊपर क्यों नहीं दया आती । (मदबाधा सी दिखाता हुआ) तेरे कुसुमबान की अनी ऐसी पैनी क्यों हुई ? हाँ, जाना—

अग्नि अजौं हर कोप की, दहकति है तो माहिं ।
जैसे बडवा समुद्र में, सराय नेकहु नाहिं ॥
जो न हेतु होतो यही, तो कैसे तू आप ।
भसम भया मोसे जनन, देतो एता ताप ॥५६॥

फिर भी—

मनबाधा यद्यपि करत, तू मकरध्वज मित्त ।
कल न देत एकहु घरी, व्याकुल राखत चित्त ॥
तदपि गिनूं तेरा यहू, बहुत बडो उपकार ।
या मदमाचनि कारन, जो तू करत प्रहार ॥५७॥

हे पञ्चशर ! मैंने तेरी बहुत स्तुति की, परन्तु तू मुझ पर दयालु न हुआ।

वृथा तोको मैंने बल नियम सों सों करि दियो।
कियो मेरो यो ही सब रतिपतौ निष्फल गयो॥
यही मोहै तू लै अब धनुष खेंचे करन लौं।
करे वेधो मेरो हिय शर चलावे जतन सों॥५८॥

(खेदित-सा इधर उधर फिरता है) हाय ! जब यज्ञ समाप्त होगा ऋषियों से विदा होकर मैं कहाँ अपने दुखी जीवन को ले जाऊँगा। (गहरी श्वास लेकर) प्रिया के दर्शन बिना कोई मुझे धीरज देने वाला नहीं, इसलिए उसी को ढूँढूँ (सूरज की ओर देख कर) इस कठिन दुपहरी को शकुन्तला कहीं मालिनी तट की लता कुंजों में सखियों के साथ बिताती होगी, अब वहीं चलूँ। (फिर कर और देखकर) इन नई लताओं में होकर प्यारी अभी गई होगी ऐसा मुझे दीखता है, क्योंकि—

जिन डारन तैं मम प्रिया, चुन फूल अरु पात।
सूख्यो दूध न छत भरयो, तिनकी अजों लखात॥५९॥

(पवन का लगना प्रकट करके) अहा ! यह स्थान कैसा सुहावना लगता है।

लिए कमल रज गन्धि अरु, कण मालिनी तरङ्ग।
आइ पवन लागति भली, मदन देह मम अङ्ग॥६०॥

(फिर कर और नीचे देखकर) बेंतों से घिरे हुए इसी लतामण्डप में प्यारी होगी, क्योंकि—

दीखत पड़ रेत में, नये खोज या द्वार।
आगे उठि पाछे धसनि, रहे नितम्बन भार॥६१॥

भला इन वृक्षों में देखूँ तो (फिर कर और हर्ष सहित देखकर) अहा ! अब मेरे नेत्र सफल हुए, मनभावती वह फूलों से सजी हुई पटिया पर पौढ़ी है और दोनों सखी सेवा में खड़ी हैं, अब हो सो हो इनके मते की बात सुनूँगा। (खड़ा होकर देखता है)

[दोनों सखियों समेत शकुन्तला दीखती है]

दोनों सखी—(प्यार से पंखा झलकर) हे सखी शकुन्तला ! हम कमल के पत्तों से ब्यार करती हैं सो तेरे शरीर को अच्छी लगती है कि नहीं।

मढना जोग दृगन प्रति प्यारी। मदन विथित दीखति यह नारी ॥
मनहु माधवी लता मताई । पीतसोख मारुत दुखदाई ॥६३॥

शकुन्तला—सखी, तुमसे न कहूगी किससे कहूगी, तुम्ही को दुख दूँगी।

प्रियवदा—प्यारी इसी से तो हम हठ कर के पूछती हैं कि निज जनो के बटाने से दु ख घटता है।

प्रियवदा—(**आप ही आप**)—

सुख-दु ख की साथिनि सायिनियाँ,
मिलि पूछति हैं दुखरा तिय को।
अब देहिगी साँध बताय तिन्ह,
यह कारन रोग सबै जिय को ॥
मुहि चाव सो बारहि बार लख्यो,
दुख मोरि मनो मुखरा पिय को।
अकुलात तऊ धो कहेगी कहा,
मिटि धीरज मेरे गयो हिय को ॥६४॥

शकुन्तला—हे सखी ! जब से मेरे नेत्रो के सामने तपोवन का रखवाला वह राजर्षि आया तभी से।

[इतना कह लज्जित होकर चुप रह जाती है]

दोनो सखी—सखी कहे जा।

शकुन्तला—तब से मेरा मन उसके बस होकर इस दशा को पहुँचा है।

दुष्यन्त—(**हर्ष से आप ही आप**)—जो मैं सुना चाहता था सोई सुन लिया।

मनसिज ही दीनो हतो, मेरे मन सन्ताप।
ताही ने करके दया, फिर दुख मेट्यो आप ॥
ग्रीषम बीते दिवस ज्यो, कारे बादल लाय।
मेटत दुख प्रानीन के, पहले देह तपाय ॥६५॥

शकुन्तला—जो तुम उचित समझो तो ऐसा उपाय करो जिससे वह राजर्षि मुझ पर दया करे, नहीं तो मुझे तिलाञ्जली दो।

दुष्यन्त—(**आप ही आप**) इस वचन से तो मेरा सब सशय मिट

प्रियंवदा—(होले अनसूया से) हे सखी ! इसकी प्रेमव्यथा इतनी बढ़ गई है कि अब उपाय में विलम्ब न होना चाहिए और जिस पर यह मोहित है वह तो पुरुवंश का भूषण है ही। इसलिए अभिलाषा भी इसकी बड़ाई के योग्य है।

अनसूया—तू सच कहती है।

प्रियंवदा—(प्रगट)सखी, धन्य है तेरा अनुराग ! क्यों न हो, समुद्र को छोड़ महानदी कहाँ जा सकती है और आम के बिना नए पत्तों वाली माधवी को कौन ले सकता है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) जो विशाखा की तरय्यां चन्द्रकला की बड़ाई करें तो क्या अचम्भा है ?

अनसूया—फिर क्या उपाय है जिससे प्यारी का मनोरथ तुरन्त सिद्ध हो और कोई जान भी नहीं।

प्रियंवदा—मनोरथ का तुरन्त सिद्ध होना तो कठिन नहीं है, परन्तु उपाय गुप्त रहना कठिन है।

अनसूया—क्यों कर।

प्रियंवदा—जब से उस राजर्षि ने इस स्नेह की दृष्टि से देखा है, क्या वह रात-रात भर जागने से दुर्बल नहीं हो गया है ?

दुष्यन्त—(अपना शरीर देखकर)—सच है, हा तो ऐसा ही गया, क्योंकि—

> निशि निशि आँसू ताप के, परत भुजा पै आय।
> मानिक या सुर बन्द के, फीके भये बनाय॥
> बार-बार ऊँची करूँ, खिसकि गिरलि यह जात।
> मुरवी हू की गूधि पै, नेक नहीं ठहरात॥

प्रियंवदा—(सोच कर) हे सखी अनसूया ! मेरे विचार में यह आता है कि इसने एक प्रीतिपत्र लिखाऊँ और फूलों में रख कर देवता के प्रसाद मिस राजा के पास पहुँचा दूँ।

अनसूया—सखी, यह उपाय तो बहुत उत्तम है। शकुन्तला क्या कहती है।

शकुन्तला—इसका परिणाम मुझे सोच लेने दो।

प्रियवदा—सखी, तू सोच कर अपने ऊपर लगता हुआ कोई ललित छन्द बनादे।

शकुन्तला—छन्द तो बना दूंगी, परन्तु मेरा हृदय कांपता है कि कहीं वह पात्र को लौटा कर मेरा अपमान न कर दे।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप ही आप)—

जासों तू शङ्का करति, मतिक अनादर देइ।
अभिलाषी तो दरस को, ठाडो लखि विन लेइ॥
कमला मिले कि ना मिले, ताहि चहत जो कोइ।
पै जाको कमला चहै, सो दुरलभ क्यो होइ॥६७॥

दोनो सखी—हे अपने गुणो की निन्दक! भला बता तो ऐसा मूर्ख कौन होगा जो शरीर का ताप मिटाने वाली शरद चांदनी को रोकने के लिए सिर पर कपडा ताने।

शकुन्तला—(मुसकाकर) लो मैं तुम्हारा कहना करती हूँ। (सोचती है)

दुष्यन्त—(आप ही आप) प्यारी को लोचन भर देखने का यह अवसर अच्छा है।

छन्द रचति सोचति वरन्, भृकुटी एक चढाय।
पुलक कपोलन ते रही, मो मे प्रीति जनाय॥६८॥

शकुन्तला—सखी गीत तो मैंने बना लिया, परन्तु लिखने की सामग्री नहीं है।

प्रियवदा—इस शुकोदर समान कोमल कमल के पत्ते पर नखों से लिख दे।

शकुन्तला—(पत्ते पर गीत लिखकर) सखियो सुनो, इस छन्द मे अर्थ बना कि न बना।

दोनो सखी—अच्छा बांच।

शकुन्तला—(बांचती है)

तो मन की जानति नहीं, अहो मीत बेपीर।
पै मो मन को करत नित, मनमथ अधिक अधीर॥

लाग्यो तोसों नेह, रैन दिना चल ना परै।
काम तपावन देह, अभिलाषा तुहि मिलन की ॥६९॥

दुष्यन्त—(झटपट आगे बढ़ कर)

केवल तोहि तपावहीं, मदन अहो सुकुमारि।
भस्म करत पै मो हियो, तू चित देखि विचारि॥
भानु मन्द कर देत, केवल गन्ध कमोदिनिहिं।
पै नाशि मंडल देत, होत प्रात के दरस तें ॥७०॥

दोनों सखी—(देख कर हर्षसहित उठती हैं) बड़े आनन्द की बात है कि मनोरथ तुरन्त सिद्ध हो गया।

[शकुन्तला आदर देने को उठती है]

दुष्यन्त—रहो रहो, मेरे लिए क्यों परिश्रम करती हो।

सुमनसेज तें लगि रहे, सुन्दर तेरे गात।
सुरभित हू मिढि के मय, मृदुल माल जलजात॥
नदिन स दीवत खरे, कठिन पात के राग।
आदर देवे काज ये नाहिं उठन के जोग ॥७१॥

अनसूया—आजी इसी चट्टान पै विराजिये, जहाँ शकुन्तला बैठी है।

(राजा बैठता है और शकुन्तला सजाती है)

प्रियंवदा—तुम दोनों का एक दूसरे में अनुराग तो प्रत्यक्ष है, परन्तु फिर भी मेरा प्यार मुझसे कुछ कहलाया चाहता है।

दुष्यन्त—कहना है सो कहो क्योंकि जो बात कहने को मन में आई हो और कही न जाय, वह पीछे दुःख देती है।

प्रियंवदा—प्रजा में जो किसी को कुछ विपत्ति हो उसको राजा दूर करे ऐसा तुम्हारा धर्म कहा है।

दुष्यन्त—सत्य है इससे बड़ा कोई धर्म राजा के लिए नहीं है।

प्रियंवदा—हमारी इस प्यारी सखी को मदन भगवान ने तुम्हारी ह म इस दशा को पहुँचा दिया, अब तुम्हीं इस योग्य हो कि कृपा करके इ प्राण रक्खो।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! भावना तो दोनों ओर समान है, परन्तु अनु सब तुमने सुनी पर है।

शकुन्तला—(प्रियवदा की ओर देख कर) राजर्षि को क्यों यहाँ बिलमाती हो, इनका मन रनवास मे धरा होगा।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी!

तेरे ही बस मो हियो, अरु काहू बस नाहिं।
बसति तुही मदलोचनी, मेरे हिय के माहिं॥
जो यातें औरहि कछु, शङ्का उपजी तोहि।
तो मनमथ बानन हन्यो, फेरि हनति तू मोहि॥७२॥

अनसूया—(हँस कर) हे सज्जन! हम सुनती हैं कि राजा बहुत रानियो के प्यारे होते हैं। परन्तु तुम हमारी सखी का ऐसा निर्वाह करना जिससे इसके बान्धवो को क्लेश न हो।

दुष्यन्त—हे सुन्दरी! अधिक क्या कहू।

होय बडी रनवास मम, द्वै कुलभूषण नारि।
सागर रसना बसुमती, अरु यह सखी तुम्हारि॥७३॥

दोनो सखी—तो अब हमारी चिन्ता मिटी।

प्रियवदा—(अनसूया की ओर देख कर) हे अनसूया! देख इधर दीठि किये हुए हरिणा का बच्चा कैसा अपनी माँ को ढूँढता फिरता है चलो उसे मिला दें। (दोनों चलती हैं)

शकुन्तला—सखियो मैं अकेली रही जाती हू, तुममे से एक तो यहा आओ।

दोनो सखी—(मुसकाकर) अकेली क्यो है, जो देवदुनी का रखवाला है सो तो तेरे पास बैठा है। (दोनो जाती हैं)

शकुन्तला—क्या दोनो ही गई।

दुष्यन्त—प्यारी चिन्ता मत कर, क्या मैं तेरा टहलुआ पास नही हूँ।

कहे प्यारी तो पै कमल बिजना शीतल झलूँ।
लगे सीरी-सीरी पवन तन को आलस मिटे॥
कहे लैके अङ्क चरन प्रिय के जावक रचे।
मलूँ जैमे-जैमे सुखद कर मोम्ह तुहि जचे॥७४॥

शकुन्तला—मैं बडो का अपराध नही लूँगी। (उठकर चलने को होती है)

दुष्यन्त—हे सुन्दरी ! अभी दुपहरी कड़ी है और तेरे शरीर की यह दशा है।

कुसमसेज तजि धूप में, लैके कोमल गात।
कहाँ जायगी उर धरे, जलजातन के पात ॥७५॥
[हाथ पकड़ के उठाता है]

शकुन्तला—हे पुरुवंशी ! नीति का पालन करो। मदन की सताई हुई भी मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ।

दुष्यन्त—हे कामिनी ! गुरुजनों का कुछ भय मत कर, क्योंकि कण्व धर्म का जानते हैं। यह बातें सुनकर तुझ दोष न देंगे।

बहुत राजऋषि धीय, गई ब्याहि गन्धर्व विधि।
हरषि मातु पितु हीय, तिनहू को आदर दियो ॥७६॥

शकुन्तला—अञ्चल छोड़ दो। मैं अपनी सखियों से फिर कुछ पूछ आऊँ।

दुष्यन्त—अच्छा छोड़ूँगा।

शकुन्तला—कब।

दुष्यन्त—

ज्यों कमल नव फूल तें मधुकर अवसर पाय।
मन्द-मन्द मधु लेत है, मन की तपनि बुझाय।
तैसे ही करि हौं जब, मैं प्यारी गुणदान।
तेरे अधर अछूत को, सहज-सहज रस पान ॥७७॥

[शकुन्तला का मुख उठाता है और वह बरजती है]

(नेपथ्य में)—ए चकवी रात आ गई, अब तू अपने नाह को त्यागी हो।

शकुन्तला—(कान लगाकर और अटपटाकर) हे पौरव, निश्चय मेरे शरीर का वृत्तान्त पूछने भगवती गौतमी इधर ही आती हैं, तुम वृक्ष की आड़ में हो जाओ।

दुष्यन्त—अच्छा यही करूँगा। (वृक्ष की ओट में छिपता है)

[हाथ में कमण्डल लिए गौतमी दोनों सखियों सहित आती है]

दोनों सखी—भगवती इधर आओ, इधर आओ।

गौतमी—(शकुन्तला के निकट जाकर) बेटी, अभी तेरे शरीर का ताप कुछ घटा तक नहीं।

शकुन्तला—हां, कुछ घटा है।

गौतमी—इस कुश के जल से तेरा शरीर निरोग हो जायगा। (सिर पर पानी के छींटे देती है) हे बेटी ! अब सन्ध्या हुई, चल कुटी को चलें। (जाती है)

शकुन्तला—(आप ही आप) हे मन ! जब सुख लेने का अवसर सम्मुख आया तब तो तू अभागा कायर हो गया। अब प्यारे के विरह सन्ताप मे तेरी क्या गति होगी ? (थोड़ी दूर चलकर खड़ी होती है। प्रगट) हे दु:ख हरने वाली लता ! अब मैं तुझसे न्यारी होती हू, परन्तु आशा रखती हूँ कि कभी फिर भी तुझे देखूँगी। (दुखी सी सबके साथ जाती है)

दुष्यन्त—(पहले स्थान पर जाकर और गहरी श्वास लेकर) अहा ! *मनोरथ सिद्ध होने मे अनेकों विघ्न पड़ते हैं।*

बार बार अ गुरीन तें, लीने होठ दुराय।
नाहिं-नाहिं मीठो बचन, बोली मुख मुस्काय ॥
ता छिन मृगनैनी बदन, मैं कछु लियो उठाय।
पै अधरामृत पान को, समरथ भयो न हाय ॥७८॥

अब कहाँ जाऊँ, इसी लतामण्डल मे जिसे प्यारी क्रीडा करके छोड गई है, घडी का आसन जमाऊँगा। (चारों ओर देखकर)

यह प्यारी की है शिल शय्या। गातन अङ्कित फूलन मय्या ॥
प्रेमपत्र यह है कुम्हिलाता। नखतें लिख्यो कमल के पाता ॥
यह मृनाल कंकन है सोई। गिरयो प्रिया के कर तै जोई ॥
इनहि लखत मे सकत न त्यागी। सूनिहु बेत-कुंज दुरभागी ॥७६॥

नेपथ्य मे—हे राजा !

सन्ध्या पूजन होत ही, राक्षसगण की छांह।
परति आय चहु ओर तें, प्रजुलित वेदिन मांह ॥
सांझ समय के मेघ सम, असित बरन अरु पीत।
देति त्रास, तपसीन को, करति महा भयभीत ॥८०॥

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! घबडाओ मत, मैं आया। (जाता है)

॥तीसरा अङ्क समाप्त॥

चौथे अंक का विष्कम्भ

स्थान तपोवन

[दोनों सखी फूल बीनती हुई आती हैं]

अनसूया—हे प्रियंवदा ! शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हुआ और पति भी उसी के समान मिला, इससे तो मेरे मन को आनन्द हुआ परन्तु फिर भी चिन्ता न मिटी।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया—इसलिए कि आज वह राजर्षि तपस्वियों का यज्ञ पूरा कराकर अपने नगर को विदा हुआ है। रनवास मे पहुँचकर जाने यहाँ के वृतान्त की सुध रक्खेगा कि नहीं।

प्रियंवदा—इसकी कुछ चिन्ता मत कर। ऐसे विशेष रूप के लोग स्वभाव के खोटे नहीं होते। अब चिन्ता तो यह है कि न जाने कण्व इस वृत्तान्त को सुनकर क्या कहेंगे ?

अनसूया—मेरे मन में तो यह भासती है कि वे इस वृत्तान्त से प्रसन्न होंगे।

प्रियंवदा—क्यों ?

अनसूया—इसलिए कि बड़ों का मुख्य संकल्प यही होता है कि कन्या गुणवान को दी जाय और जो दैव आप ही ऐसा वर मिला दे तो उनको समझना सहज ही कृतार्थ हुए।

प्रियवदा—सत्य है। (फूलों की टोकरी देखकर) हे सखी ! जितने फूल पूजा को चाहियें उतने तो हम बीन चुकीं।

अनसूया—शकुन्तला ने सुहागदेवी की पूजा भी तो करानी है।

प्रियवदा—अच्छा।

[दोनों फूल बीनती हैं]

(नेपथ्य में)—यह मैं हू, मैं।

अनसूया—(कान लगाकर) हे सखी ! यह तो किसी अतिथि का-सा बोल है।

प्रियवदा—क्या शकुन्तला कुटी पर नही है ? (आप ही आप) है तो, परन्तु आज उसका चित्त ठिकाने नही है।

अनसूया—चलो, इतने ही फूल बहुत हैं। (चलती हैं)

(नेपथ्य में)—हे अतिथि का निरादर करने वाली !

तपोधनी मैं जात कहायो। तै नहिं जान्यो सन्मुख आयो।
जाके ध्यान एकटक लागी। सुधि बुधि तै सबही की त्यागी॥
जो जन युवति भूलि तुहि जाही। आयें सुरति न कोटि उपाई।
जैसे मदमातो नर काई। प्रथम बात कहि भूल्यो होई ॥८१॥

प्रियवदा—हाय हाय ! बुरा हुआ, किसी तपस्वी का अपराध बसुधी मे शकुन्तला से बन गया (आगे देखकर) वह तो कोई ऐसा वैसा नही, महा क्रोधी दुर्वासा ऋषि है जो शाप देकर रिस का भरा डिगमिगाते पैरो वेग वग जाता है। भस्म करने की सामर्थ्य दो ही म है एक अग्नि मे दूसर इस ब्राह्मण म।

अनसूया—हे प्रियवदा ! तू जा पैरो पड कर जैसे बने इसे मना ले। जब तक मैं अर्घ जल सजोती हू।

प्रियवदा—अच्छा। (जाती है)

अनसूया—(थोडी दूर चलकर गिर पडती है) हाय ! उतावली होकर मैंने फूलो की टोकरी हाथ मे गिराई। (फूल बीनने लगती है)

[प्रियवदा जाती है]

प्रियवदा—हे सखी, इस महर्षि का स्वभाव टेढा है, उसे कौन सीधा कर सकता, परन्तु मैंने कुछ कर लिया।

अनसूया—इसका थोड़ा मन जाना भी बहुत है। तू यह बतला कि कैसे मनाया।

प्रियंवदा—जब लौटने को नट गया तब मैंने विनती की हे महापुरुष! इस कन्या का पहला ही अपराध है और यह तप के प्रभाव को जानती न थी, ऐसा विचार कर इसे क्षमा करो।

अनसूया—फिर क्या हुआ?

प्रियंवदा—तब बोला मेरा वचन झूठ नहीं होता परन्तु सुध दिलाने वाली मुदरी के देखने पर शाप मिट जायगा यह कहकर अन्तर्ध्यान हो गया।

अनसूया—तो अभी कुछ आशा है क्योंकि जब वह राजर्षि चलने को हुआ अपनी मुदरी जिसमें उसका नाम खुदा था—शकुन्तला की अँगुली में सुध के लिए पहना गया। यही मुदरी हमारी सखी को इस शाप का सहज उपाय होगी।

प्रियंवदा—सखी चलो अब देवराज से निबट आवें। (इधर उधर फिरकर और देखकर) हे अनसूया! देख वाएँ कर पर कपोल धरे प्यारी सखी कैसी चित्रलिखी-सी बन रही है। पति के वियोग में इसको तो अपने आए हुए की क्या अपनी भी सुध नहीं है।

अनसूया—हे प्रियंवदा! यह शाप की बात हम ही तुम जानें शकुन्तला को मत सुनाओ क्योंकि उसका स्वभाव कोमल बहुत कोमल है।

प्रियंवदा—ऐसा कौन होगा जो नवमल्लिका की लहलही लता पर तत्ता पानी छिड़के। (दोनों जाती हैं)

॥ इति विष्कम्भ ॥

अंक ४

स्थान—आश्रम का समीप

[कण्व का एक शिष्य सोते से उठकर आता है।]

शिष्य—महात्मा कण्व अभी परदेश से आये हैं और मुझे आज्ञा दी है कि देख आ रात कितनी रही है। इसलिए मैं बाहर जाता हूं। (इधर-उधर फिर कर आकाश की ओर देखता हुआ) अहा! यह तो सवेरा हो गया।

एक ओर प्रभु औषधिराई। अस्ताचल शिखरन को जाई॥
दूजी ओर पद्मिनीनायक। निकस्यो अरुण सहित तमधायक॥
अस्त उदै सिखरावत इनको। एक संग ह्वै तेज मदन को॥
धीरज धर्म तजें नर नाहीं। निज-निज संपति विपतिन माहीं॥८२॥

और देखो—

अस्ताचल पहुँच्यो शशि जाई। दई कुमुदनी छवि बिसराई॥
दृगन देति अब आनन्द नाहीं। आय रही छवि सुमिरन माहीं॥
जिन तिरियन के पीतम प्यारे। दश छोड परदेश सिधारे॥
तिनते दुख नहिं जात कहेऊ। अबलन पै क्यों जात सहेऊ॥८३॥

[अनसूया पट को झटके से उठाकर आती है]

अनसूया—(आप ही आप) यद्यपि मैं संसार की बातों में अजान हूं तो भी इतना मैंने जान लिया कि उस राजा ने शकुन्तला के साथ अनर्थ किया।

शिष्य—अब होम का समय हुआ, गुरुजी से चलकर कहना चाहिए।

(बाहर जाता है)

अनसूया—मैं उठी भी तो क्या करूंगी, हाथ-पैर तो कहना ही नहीं करते। अब निर्दयी कामदेव का मनोरथ पूरा हुआ जिसने हमारी भोली सखी को एक मिथ्यावादी के वश में डालकर इस दशा को पहुँचाया है अथवा यह मूल दुर्वासा के शाप का फल है नहीं तो क्योंकर हो सकती कि वह राजर्षि

ऐसे वचन देकर अब तक संदेश का पत्र भी न भेजता। अब सुध दिलाने को अंगूठी उसके पास भेजनी पडी, परन्तु इन दुखिया तपस्वियो में किससे कहूँ कि अंगूठी ले जा। जो मैं यह भी जानती कि शकुन्तला का दोष है तो भी पिता कण्व से जो अभी तीर्थ करके आये हैं, न कह सकती कि शकुन्तला का विवाह राजा दुष्यन्त से हो गया है और उसके गर्भ है। अब क्या करना चाहिए ?

[प्रियवदा हँसती हुई आती है]

प्रियवदा—सखी वेग चल, शकुन्तला की बिदा का उपचार करें।

अनसूया—तू क्या कहती है ?

प्रियवदा—सुन, अभी मैं शकुन्तला से पूछने गई थी कि रात मे चैन से सोई कि नही।

अनसूया—तब।

प्रियवदा—वह तो लाज की मारी सिर झुकाए खडी थी। इतने मे पिता कण्व आये और उसे छाती से लगा कर यह शुभ वचन बोले कि हे पुत्री! बड मङ्गल की बात है कि आज जब ब्राह्मण ने आहुति दी तब यद्यपि यज्ञ के धुएँ से उसकी दृष्टि धुँधली हो रही थी आहुति अग्नि ही मे पडी। हे बच्ची! जैसे योग्य शिष्य को विद्या देने से मन को खेद नही होता ऐसे आज मैं तुझे बिना खेद करे भरता के पास ऋषियो के साथ भेज दूँ।

अनसूया—हे सखी जो बातें मुनि के पीछे हुई सो उनसे किसने कह दी।

प्रियवदा—जब मुनि यज्ञस्थान के निकट पहुँचे तब आकाशवाणी छंद मे कह गई।

अनसूया—(चकित होकर) क्या कह गई ?

प्रियवदा—सखी मुन आकाशवाणी ने यह कहा—

नामी गरभ म अनल ज्यो, त्यों तेरी धिय सन्त।
धारित तज दियौ जु नृप, प्रजा हेतु दुष्यन्त ॥८४॥

अनसूया—(प्रियवदा को भेंट कर) हे सखी! यह सुनकर तो मुझे बडा आनन्द हुआ बडा सुख हुआ परन्तु जब सोचती हू कि शकुन्तला आज ही जायगी तो सुख और दुख समान हो जाते हैं।

प्रियंवदा—वह सुखी रहेगी, इससे हमको भी कुछ शोक न करना चाहिए।

अनसूया—मैंने इसी दिन को उस नारियल में जो आम के पेड़ पर लटकता है, नित नई नागकेसर की माला रक्खी थी, तू इसे उतार ले। तब तक मैं मृगरोचन और तीर्थ की मिट्टी और मङ्गल उपचार की सामग्री ले आऊँ।

प्रियंवदा—बहुत अच्छा।

[अनसूया जाती है और प्रियंवदा माला उतारती है]

(नेपथ्य में)—हे गौमती ! शारङ्गरव और शारद्वत मिश्रों से कह दो कि शकुन्तला के पहुचाने को जाना होगा।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया, विलम्ब मत कर। हस्तिनापुर जाने वाले ऋषि बुलाये जाते हैं।

[अनसूया हाथ मे सामग्री लिये आती है]

अनसूया—आओ सखी हम भी चलें। (दोनों इधर-उधर फिरती है)

प्रियंवदा—(देखकर) वह देख, शकुन्तला सूरज निकलते ही सिरस्नान करके बैठी है और बहुत सी तपस्विनी हाथ मे तन्दुल लिए अशीश दे रही हैं। चलो हम भी वहाँ चलें। (जाती हैं)

[ऊपर कही हुई भाँति शकुन्तला बैठी दीखती है]

एक तपस्विनी—(शकुन्तला की ओर देखकर) हे बेटी ! तू पति से मान पाकर महारानी हो।

दूसरी—तू शूरवीर की माता हो।

तीसरी—तू पति की प्यारी हो।

[आशीर्वाद देकर सब जाती हैं, गौमती रहती है]

दोनों सखी—(शकुन्तला के निकट जाकर) तेरा स्नान मंगलकारी हो।

शकुन्तला—(आदर से) सखियो, भली आई, यहाँ बैठो।

दोनो सखी—(मंगलपात्र हाथ मे लिए हुए बैठती हैं) सखी, तू चलने को उपस्थित हो आ, पहले हम नेगचार का उबटन कर दें।

शकुन्तला—हे प्यारियो ! तुम्हारे हाथ से फिर सिंगार मिलना मुझे

दुर्लभ हो जायेगा। इसलिए जो कुछ तुम आज मेरे लिये करोगी, मैं बहुत करके मानूंगी। (आँसू गिराती है)

दोनों सखी—सखी ऐसे मंगल समय रोना उचित नहीं है।

[आँसू पोछ कर वस्त्र पहनती है]

प्रियंवदा—हे सखी! तुम्हारे इस सुन्दर अंग को अच्छे-अच्छे गहने चाहिए थे। ये आश्रम के फूल पत्ते तो अनहोते को हैं, अच्छे नहीं लगते।

[दो ऋषिकुमार वस्त्रभूषण लिये आते हैं]

दोनों ऋषिकुमार—भगवती को ये वस्त्राभूषण पहनाओ।

[देखकर सब चकित होती हैं]

गौमती—पुत्र नारद! ये कहाँ से आए?

पहला ऋषिकुमार—पिता कण्व के प्रभाव से।

गौमती—क्या मन में विचारते ही प्राप्त हो गए?

दूसरा ऋषिकुमार—नहीं, सुनो। जब महात्मा कण्व की आज्ञा हमको हुई कि शकुन्तला के निमित्त लता-वृक्षों से फूल ले आओ तब तुरन्त—

काहू तरवर दीन्ह उतारो। भगलौक शशि सम सितसारी॥
काहू दियो लाख रस सोई। जासों तुरत महावर होई॥
ओरल बहुविधि भूषन मीने। बनदेविन के हाथन दीने॥
ते निकसे पहुँचे लौं हाथा। होड़ करत नवशाखन साथा॥८१॥

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) वनदेवियों से वस्त्राभरण मिलना यह सगुन तुझे सासरे में राजलक्ष्मी का दाता होगा। (शकुन्तला लजाती है)

पहला ऋषिकुमार—हे गौतम! आओ-आओ। गुरुजी स्नान करके आगए। चलो उनसे वनदेवियों के सत्कार का वृत्तान्त कह दें।

दूसरा—अच्छा। (दोनों जाते हैं)

दोनों सखी—हे सखी! हम आभूषण को क्या जानें, परन्तु चित्र विद्या के बल से तेरे अंगों में पहना देंगे।

शकुन्तला—मैं तुम्हारी चतुराई जानती हूं। (दोनों सिंगार करती हैं)

[कण्व स्नान किए हुए आते हैं]

कण्व—

आज शकुन्तला जायगी, मन मेरो अकुलात।
रुकि आसू गद्गद् गिरा, आँखिन कछु न लखात॥
मोसे वनबासीन जो, इतो सतावत मोह।
तो गेही कैसे सहैं, दुहिता प्रथम विछोह ॥८६॥

[इधर उधर टहलते हैं]

दोनो सखी—हे शकुन्तला ! तेरा सिगार हो चुका अब कपडे का जोडा पहन ले। (शकुन्तला उठकर साडी पहनती है)।

गौतमी—हे पुत्री ! आनन्द के आँसू भरे नेत्रो से तुझे देखने गुरुजी आते हैं, तू इन्हे आदर से ले।

शकुन्तला—(उठकर लज्जा से) पिता, मैं नमस्कार करती हू।

कण्व—हे बेटी—

तू पति की आदरवती हूजो तो घर जाय।
जैसे सरमिष्ठा भई, नृप ययाति वर पाय॥
छत्रपती पुर नाम, जैसो सुत वाने जन्यो।
चक्रवती अभिराम, तैसो ही जनियो तुहू ॥८७॥

गौतमी—हे महात्मा ! यह तो आशीर्वाद क्या वरदान है।

कण्व—आ बेटी, तुरन्त आहुति दी हुई अग्नियो की प्रदक्षिणा कर ले।

[सब प्रदक्षिणा करती हैं]

बहुधा वेदी के विधिवत् रची है अग्निनि ये।
बिछी दर्भी नेरे अरु प्रजुल सोहे समदि लै॥
नसावैं प्रानी के अघ हविरगन्धी धुवन त।
यही ज्वाला तेरे दुरित सब बेटी परिहरें ॥८८॥

अब पुत्री तू शुभ घडी मे विदा हो। (चारों ओर देखकर) संग जाने वाले मिश्र कहाँ हैं ?

[शाङ्गरव और शारद्वत आते हैं]

शिष्य—मुनिजी, हम ये है।

कण्व—अपनी बहन को गैल बताओ।

शाङ्गरव—आओ भगवती, इधर आओ।

(सब चलते हैं)

कण्व—हे तपोवन में सहवासी वृक्षो—

पाछे पीवति नीर जो, पहले तुमको प्याय।
फूल पात तारति नहीं, गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस, आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहिं, उत्सव करति महान॥
सो यह जाति शकुन्तला, आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की, तुम सब सहित सनेह॥८९॥

यह देखो— (कोयल का बोल जताकर)

आज्ञा देत पयान की, ये तरुवर बनराय।
बनवासिन के बन्धुजन, कोयल शब्द सुनाय॥९०॥

(नेपथ्य में)—

पथ होय याको सुखकारी। पवन मन्द अरु अभिमत चारी॥
ठौर ठौर सरिता सर आवें। हरित कमलिनी छाय सुहावें॥
तरुवर शीतल छाँह घनेरे। मेटनहार ताप रवि केरे॥
मृदुल भूमि पगपग सुखदाई। मनहु कमलरज दीन्ह बिछाई॥९१॥

[सब कान लगाकर अचम्भे से सुनते हैं]

गौतमी—हे पुत्री! तेरी हितकारिन तपोवन की देवियाँ तुझे आशीर्वाद देती हैं, तू भी इनको प्रणाम कर।

शकुन्तला—(नमस्कार करके प्रियंवदा से हौले-हौले) हे प्रियंवदा! आर्यपुत्र से फिर मिलने का तो बड़ा चाव है, परन्तु आश्रम छोड़त हुए दुख के मारे पाँव आगे नहीं पड़त।

प्रियंवदा—अकेली तुझी को दुःख नहीं है। ज्यों-ज्यों तेरे वियोग का समय निकट आता है, तपोवन भी उदास-सा दीखता है।

लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आँसू जिमि डारनि लता, पीरे-पीरे पात॥९२॥

शकुन्तला—(सुध करती हुई-सी) पिता, मैं इस माधवी लता से भी मिल लूँ, इससे मेरा बहन का सा स्नेह है।

कण्व—बेटी, मैं भी जानता हूँ तेरा इसमें सहोदर का-सा प्यार है। माधवी लता यह है दाहिनी ओर।

शकुन्तला—(लता के निकट जाकर) हे वनज्योत्स्ना! यद्यपि तू आम से लिपट रही है तो भी इन शाखा—रूपी बाँहों से मुझे मिल ले, क्योंकि अब मैं तुमसे दूर जा पड़ूँगी।

कण्व—

जैसो पति तेरे लिए, मैं सकल्प्यो आप।
वैसो तें पायो सुता, अपने पुन्न प्रताप॥
मिली भली नवमल्लिका, यह आम सग आय।
आज भया तुम दुहुन तें, मैं निश्चित उपाय॥६३॥

हे बेटी! विलम्ब मत कर अब विदा हो।

शकुन्तला—(दोनों सखियों से) हे सखियो! इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपती हूँ।

दोनों सखी—(आँसू गिराती हैं) हमें किसके हाथ सौंपती हो।

कण्व—हे अनसूया! अब रोना त्यागो। तुम्हें तो चाहिए कि शकुन्तला को धीरज बँधाओ।

[सब चलते हैं]

शकुन्तला—हे पिता! जब यह कुटी के निकट चरने वाली ग्याभन हरिनी क्षेम कुशल से जने, तुम किसी के हाथों यह मगल समाचार मुझे कहला भेजना, भूल मत जाना।

कण्व—अच्छा न भूलूँगा।

शकुन्तला—(कुछ चलकर और फिर कर) यह कौन है जो मेरा अञ्चल नहीं छोड़ता। (पीछे फिर कर देखती है)

कण्व—

कहुँ दाभन तें मुख जाको छियो जब तू दुहिता लखि पावति ही।
अपने कर तें तिन घावन पै तुही तेल हिंगोट लगावति ही॥
जिहि पालन के हित धान समा नित मूठहि मूठ खवावति ही।
मृगछौना सो क्यों पग तेरे तजे जाहि पूतलौं लाड लडावति ही॥६४॥

शकुन्तला—अरे छौना! मुझ सहवास छोड़ती हुई के पीछे तू क्यों आता

है ? तेरी माँ तुझे जनते ही छोड़ मरी थी, तब मैंने तेरा पालन किया। अब मेरे पीछे पिता जी तुझे पालेंगे, तू लौट जा। (आँसू डालती हुई चलती है)

कण्व—

दृढ करि आँसू रोकि तू, आगे देखन हेत।
उन्नत बरुनी दृगन ये, काम देन नहिं देत॥
ऊँची नीची भूमि में, गिरै न ठोकर खाय।
सावधान पग दीजिये, या मारग म आय॥६५॥

शारङ्गरव—हे महात्मा ! सुनते हैं कि प्यारेजनों को पहुँचाने वहीं तक जाना चाहिए जहां तक जलाशय न मिले। अब यह सरोवर का तट आ गया, आप हम सीख देकर आश्रम को सिधारो।

कण्व—तो आओ छिनमात्र इस वट की छाया म ठहर लें।

[सब पेड़ के नीचे ठहरते हैं]

कण्व—(आप ही आप) उस राजा दुष्यन्त के योग्य क्या सन्देसा है जो मैं भेजूं। (सोचता है)

शकुन्तला—(सखी से होले होले) हे सखी ! देख चकवी कमल के पत्तों में छुपे हुए प्यारे चकवे को देखे बिना आतुर होकर कहती है कि मैं अभागी हूं।

अनसूया—सखी, ऐसा मत कह।

दुख की भागी निशि यह, काटति बिनु पिय पास।
मन्द करत कछु बिरह दुख, फेर मिलन की आस॥६६॥

कण्व—हे शारङ्गरव ! शकुन्तला को आगे करके तू हमारी ओर से उस राजा से यों कहना।

शारङ्गरव—जो आज्ञा।

कण्व—

जानि भले हमको तपधारी। अपनो हू कुल उच्च बिचारी॥
अरु जो बन्धु उपाय बिनाहीं। भई प्रीति याकी ता माहीं॥
उचित होइ ताकों नर नाहू। सब रानिन सम राखे याहू॥
और जु अधिक भागि बस भोगू। बधू बधुजन कहन न जोगू॥६७॥

तो यह मुंदरी जिस पर उसका नाम खुदा है, दिखा दीजो।

शकुंतला—तुम्हारे इस संदेह ने तो मुझे कंपा दिया।

दोनों सखी—कुछ डरने की बात नहीं है, अति स्नेह में बुरी शंका होती ही है।

शारङ्गरव—अब दिन पहर से अधिक चढ़ गया, चलो बेग विदा हो।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुख करके खड़ी होती है) हे पिता तपोवन के दर्शन फिर कब कराओगे।

कण्व—बेटी सुन !

बनि तिय बहुत दिवस भूपति की। सौतिनिचार कौन बसुमति की॥
करिके ब्याह सुवन समरथ को। मारग रुके न जाके रथ को॥
दवे ताहि कुटुम की भारा। तजि के राज काज व्यवहारा॥
पति तेरो नहि सग लै ऐहै। या आश्रम तब तू पग दैहै॥१००॥

गौतमी—बेटी, अब चलने का मुहूर्त बीता जाता है पिता को जाने दे। मुनि जी तुम जाओ, यह तो बार बार ऐसे ही कहती रहेगी।

कण्व—बेटी! मेरे तप के काम में विघ्न पड़ता है।

शकुन्तला—(पिता से मिलकर) हे पिता! मेरे लिये बहुत शोक मत करना क्योंकि तुम्हारा तपस्यापीडित दुर्बल शरीर है।

कण्व—(गहरी श्वास लेकर)

तैं भाग बोए सुता पूजा हित नीवार।
सो उपजे हैं प्राय ये परणकुटी के द्वार॥
इन्हे लखत कैसे सहूँ, अपनी बिथा मिटाय।
तो बिछुरन तैं जो भई, मेरे हिय में आय॥१०१॥

अब जा, तेरा मारग सुखकारी हो।

[शकुंतला सखियों समेत चलती है]

दोनो सखी—(शकुन्तला की ओर देखकर) हाय ? हाय अब बन के वृक्षो ने शकुंतला को दुरा लिया।

कण्व—(श्वास लेकर) हे अनसूया! तुम्हारी सहेली गई, अब तुम शोक छोड मेरे पीछे चली आओ।

दोनों सखी—हे पिता ! शकुन्तला बिना तो तपोवन सूना-सा लगता है, हम इसमें कैसे चलें।

कण्व—ठीक है। प्रीति में ऐसा ही दीखता है (ध्यान करता हुआ) शकुन्तला को ससुराल भेजकर अब मैं निश्चिन्त हुआ।

पर-घर को धन धीय, पठै तहि घर पीय के।
आज विमल मम हीय, फेरि धरोहरि जिमि दई ॥१०२॥

चौथा अङ्क समाप्त ॥

दुष्यन्त—जो चतुराई की रीति से उसे समझा देना।

माढव्य—जाने क्या गति होगी। (जाता है)

दुष्यन्त—(आप ही आप) यद्यपि मुझे किसी स्नेही का वियोग नहीं है तो भी गीत के सुनते चित्त को आप से आप उदासी हो आई है। इसका क्या हेतु है, यह हो तो हो कि—

लखि के सुन्दर वस्तु अरु, मधुर गीत सुनि कोइ।
सुखिया जनहू के हिए, उत्कण्ठा यदि होय॥
कारन ताको जानिये, सुधि प्रगटी है आय।
जन्मान्तर के सखन की, जो मन रही समाय॥१०४॥

[व्याकुल सा होकर बैठता है कुंचुकी आता है]

कंचुकी—अहा! अब मैं किस दशा को पहुँचा हूँ।

रीति जानि अपनी पदवी की। परम्परा मानी सबही की॥
लकुट लई मैंने जो आगे। राज गेह रक्षा हित लागे॥
तब तें कालजु बहुत बितायो। आय बुढ़ापो मो तन छायो॥
डिगमिगात पग चलत दुखारो। यही लकुट अब देत सहारो॥१०५॥

सच तो यह है कि राजा को धर्मकाज करने ही पड़ते हैं। परन्तु महाराज धर्म्मासन से उठकर अभी गये हैं, इसलिए उचित नहीं कि मैं उनसे इसी समय कहूँ कि कण्व ऋषि के चेले आये हैं, क्योंकि इस सन्देश से स्वामी के विश्राम में विघ्न पड़ेगा। नहीं-नहीं, जिनके सिर प्रजापालन का बोझ है, उनको विश्राम कैसा—

जोरि तुरङ्ग रथ एकदा, रवि न लेत विश्राम।
तैसे ही नित पवन को, चलबे ही तें काम॥
भूमिभार सिर पै सदा, धरत शेष हू नाग।
यही रीत राजान की, लेत छठो जो भाग॥१०६॥

तो अब मैं इस सन्देश को भुगता ही दूँ। (इधर-उधर देख कर) महाराज वे बैठे हैं।

पालि प्रजा सन्तान सम, थकित चित्त जब होय।
ढूँढत ठाँव इकन्त नृप, जहाँ न आवे कोइ॥

सब हथिन गजराज ज्यों, लैवे बन के माँह।
घाम लग्यो सोवत फिरत, दिन मे शीतल छाँह ॥१०७॥

(पास जाकर)—महाराज की जय हो। हे स्वामी! हिमालय की तराई के वनवासी तपस्वी स्त्रियों सहित कण्व मुनि का सन्देसा लेकर आए हैं। उनके लिए क्या आज्ञा है?

दुष्यन्त—(आदर से) क्या कण्व मुनि का सन्देश लेकर आये हैं?

कचुकी—हाँ प्रभु।

दुष्यन्त—तो सोमरात पुरोहित से कह दे कि इन आश्रम वासियों का वेद की विधि से सत्कार करके अपने साथ लावें। मैं भी तब तक तपस्वियों से भेंटने योग्य स्थान में बैठता हूँ।

कचुकी—जो आज्ञा। (बाहर जाता है)

दुष्यन्त (उठकर) ले प्रतिहारी! अग्नि स्थान की गैल बता।

प्रतिहारी—महाराज, यह गैल है।

दुष्यन्त—(इधर-उधर फिर कर अधिकार के बोझ का दुःख दिखाता हुआ) अपना अपना मनोरथ पाकर सब प्रसन्न हो जाते हैं, परन्तु राजा की कृतार्थता निरी क्लेश की भरी होती है।

हाय मनोरथ के लगे, अभिलाषा भरि जात।
हाय लगे को राखिबो, करत खेद दिन राति॥
नृपताहू यो जानिये ज्यों छत्री कर माँहि।
देति कष्ट पहले इता, जेता मेटति नाँहि ॥१०८॥

(नेपथ्य मे)

दो डाटी—महाराज की जय रहे।

पहला डाढी—

निज कारण दुख ना सहो सहो पराए काज।
राजकुलन व्यवहार यह सो पालहु महाराज॥
अपने शिर पै लेत हैं, वर्षा शीत रु घाम।
जिमि तरवर हित पथिक के, निज तर दै विश्राम ॥१०९॥

दूसरा—

दुष्ट जनन दश करन लेत जब दण्ड प्रचण्डहि।
देत दंड उन नरन चलत मर्याद जो छंडहि॥

करत प्रजा प्रतिपाल कलह के मूल बिनाशहि।
जिहि निमित्ति नृप जन्म धर्म सब करत प्रकाशहि ॥
महाराज दुष्यन्त जू चिरजीवो नित नवल वय।
मेटि विघ्न उत्पात सब प्रज्जहि करि राखो अभय ॥
धन वैभव तो और हू, बहुत क्षत्रियन माहिं।
पै सुप्रजा हिन तुमहि में, अधिक भेद कछु नाहिं ॥
राखत बन्धु समान, याही तें तुम सबन को।
करत मान सन्मान, दुःख ना काहू देत हो ॥११०॥

दुष्यन्त—इन्होने तो मेरे मलीन मन को फिर हरा कर दिया।

[इधर-उधर फिरता है]

प्रतिहारी—महाराज ! अग्निशाला की छत लिपी-पुती स्वच्छ पड़ी है और निकट ही होमधेनु बधी है, वही चलिये।

दुष्यन्त—(सेवको के कन्धों का सहारा लेता हुआ छत पर चढकर बैठता है) हे प्रतिहारी ! कण्व मुनि ने किस निमित्त हमारे पास ऋषि भेजे हैं ?

तपसीन के कारज माँहि किधौं अब आय बडो कोई विघ्न पर्यो।
बनचारी किधौं पशु पक्षिन में काहु दुष्ट नयो उत्पात कर्यो।
फल फूलिबो बेलि लता बन को मति मेरे ही कर्मन तें बिगर्यो।
इतने मुहि घेरि सन्देह रहे इन धीरज मेरे हिये को हर्यो ॥१११॥

प्रतिहारी मेरे जाने तो ये तपस्वी महाराज के सुकर्मों से प्रसन्न होकर धन्यवाद देने आये हैं।

[शकुन्तला को साथ लिए हुये गौमती सहित मुनि आते हैं। कचुकी और पुरोहित उनसे आगे हैं]

द्वारपाल—इधर आओ महात्माओ, इस मार्ग आओ।

शारङ्गरव—हे शारद्वत—

यदपि भूप यह है बडभागी। थिर मर्याद धर्म्म अनुरागी ॥
जासु प्रजा में नीचहु कोई। कुमत कुमारग लीन न होई ॥
पै मैं तो नित रह्यो अकेलो। याते नाहिं सुहात सहेलो ॥
मनुप मर्यो मुहि यह नृप द्वारा। दीखत जिमि घर जरत अंगारा ॥११२॥

शकुन्तला—(आप ही आप अपने हृदय पर हाथ रख कर) हे हृदय ! तू ऐसा क्यो डरता है, आर्यपुत्र के प्रम की सुध करके धीरज धर।

पुरोहित—(आगे जाकर) महाराज। इन तपस्वियो का आदर-सत्कार विधि पूवक हो चुका। अब ये अपने गुरु का सन्देशा लाए हैं, सो सुन लीजिए।

दुष्यन्त—(आदर से) सुनता हूँ, कहने दो।

दोनो ऋषि—(हाथ उठाकर) महाराज की जय रहे।

दुष्यन्त—आपक मनोरथ सिद्ध हो।

दुष्यन्त—मुनियो का तप तो निर्विघ्न होता है ?

शारङ्गरव—

जब लग रखवारे बने, तुम जग मे महाराज।
क्यो बिगरेंगे मुनिन क, धर्म्म परायण काज ॥
ज्योति दिवाकर की रहे जौ लो मण्ल छाय ॥
अन्धकार नहिं ह्वै सक, प्रगट भूमि पै आय ॥११६॥

दुष्यन्त—तो अब मेरा राजा शब्द यथार्थ हुआ। कहो लोक हितकारी कण्व मुनि प्रसन्न हैं।

शारङ्गरव महाराज ! कुशलता तपस्विया के सदा आधीन ही रहती है। गुरुजी न आपका अनामय पूछकर यह कहा है—

दुष्यन्त—क्या आज्ञा की है ?

शारङ्गरव—कि तुमन मेरी इस कन्या को गान्धर्व रीति स व्याह लिया सो मैंने प्रसन्नता म अङ्गीकार किया क्योकि—

तुम्ह मुख्य सज्जनन म हम जानत हैं भूप।
शकुन्तला हू है निरी, सत किरिया की रूप ॥
एस समगुण बर बधू, विधि ने दूह मिलाय।
बहुत दिनन पाछे लियो, अपना दोष मिटाय ॥११७॥

अब इस गर्भवती को धमाचरण-निमित्त लीजिए।

गौतमी—हे राजा ! मैं कुछ कहा चाहती हूँ, परन्तु कहने का अवकाश अभी नहीं मिला।

पूछे याने नाहिं गुरुजन तुमहु न बन्धुजन।
या बारज के माहिं, करो परस्पर बात अब ॥११८॥

शकुन्तला—(आप ही आप) देखूँ अब आर्य्यपुत्र क्या कहते हैं ?

दुष्यन्त—यह क्या स्वाँग है ?

शकुन्तला—(आप ही आप) हे दई ! राजा का यह वचन तो निरा अग्नि ही है।

शारङ्गरव—हैं ! यह क्या ? हे राजा ! तुम तो लोकाचार की बातें जानते हो।

जाय सुहागिन बसति जो अपने पीहर धाम।
लोग बुरी शंका करें यद्यपि सती हू बाम॥
यातें चाहत बन्धुजन रहे सदा पतिगेह।
प्रमदा नारि सुलच्छिनी बिनहिं पिया के नेह ॥११९॥

दुष्यन्त—क्या मेरा इस भगवती से कभी ब्याह हुआ था ?

शकुन्तला—(उदास होकर आप ही आप) अरे मन जो तुझे डर था सोई आगे आया।

शारङ्गरव—क्या अपने किए में अरुचि होने से धर्म्म छोड़ना राजा को योग्य है ?

दुष्यन्त—यह झूठी कल्पना का प्रश्न क्यों करते हो ?

शारङ्गरव—(क्रोध से) जिनको ऐश्वर्य का मद होता है उनका चित्त स्थिर नहीं रहता।

दुष्यन्त—यह कठोर वचन तुमने मेरे ही लिए कहा।

गौतमी—(शकुन्तला से) हे पुत्री ! अब थोड़ी देर को लाज छोड़ दे ला मैं तेरा घूँघट खोल दूँ जिससे तेरा भर्ता तुझे पहचान ले।

[घूँघट खोलती है]

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देखकर आप ही आप)

धरी कि अबहू ना बरी परी हिये उरझट।
ठाडो रूप ललाम लै, सम्मुख मेरे भेट॥

सकत न याको लैन सुख, नहिं मैं त्यागि सकात।
ओस भरे सद कुन्द कों, जैसे मधुकर प्रात ॥१२०॥

[सोचता हुआ बैठता है]

प्रतिहारी—(दुष्यन्त से) महाराज तो अपने धर्म मे सावधान हैं, तो नहीं सन्मुख आये ऐसे स्त्री-रत्न को देख कौन सोच विचार करता है।

शारङ्गरव—हे राजा! ऐसे चुपके क्यों हो रहे हो?

दुष्यन्त—हे तपस्वियो! मैं बार-बार सुध करता हूं, परन्तु स्मरण नहीं होता कि इस भगवती से मेरा विवाह हुआ और जब इस गर्भवती के लेने से मुझे क्षेत्री[1] कहलाने का डर है तो क्योंकर इसे स्वीकार कर सकता हूँ?

शकुन्तला—(आप ही आप) हे दैव! जो मेरे साथ ब्याह ही में सन्देह है तो अब मेरी बहुत दिन की लगी आशा टूटी।

शारङ्गरव—ऐसा मत कहो।

जासु सुता नृप तें छलि लीनी। यह अनीत जाके सग कीनी॥
जाने तदपि बुरो नहिं मान्यो। ब्याह तुम्हारो शुद्ध प्रमान्यो॥
चुरी वस्तु दे के जिमि कोई। चोरहि साह बनावत होई॥
सो न जोग अपमान मुनीसा। देखि विचारि तुही छिति ईशा ॥१२१॥

शारद्वत—शारङ्गरव! अब तुम ठहरो। हे शकुन्तला! हमको जो कुछ कहना था वह चुके और उत्तर भी सुन लिया। अब तू कुछ कह जिससे इसे प्रतीति हो।

शकुन्तला—(आप ही आप) जो वह स्नेह ही न रहा तो अब सुध दिलाने में क्या प्रयोजन। अब तो मुझे लोक के अपवाद से बचने की चिन्ता है। (प्रगट) हे आर्यपुत्र! (आधा कह कर रुक जाती है) और जो ब्याह ही में सन्देह है तो यह शब्द अनुचित है। हे पुरुवंशी! तुमको योग्य नहीं है कि आगे तपोवन में मुझ सीधे स्वभाव वाली को प्रतिज्ञाओं से फुसला कर अब ऐसे निठुर वचन कहते हो।

दुष्यन्त—(कान पर हाथ रखकर) पाप से भगवान बचाये।

---

1. नाम-मात्र का पति जिसकी पत्नी किसी अन्य से गर्भवती हो।

क्यों चाहति तू पदमिनी, करन पात को मोहि।
धर दूषित मम यश को, मैं पूछत हौं तोय॥
सरिता निज तट तोरि जो, म्लान लेति मसाय।
नीर बिगारति आपनों, शोभा देति नसाय॥१२८॥

शकुन्तला—जो तुम भूल कर सत्य ही मुझे परनारी समझे हो तो लो पते के लिए तुम्हारे ही हाथ की मुदरी देती हूँ, जिससे तुम्हारी शंका मिट जायगी।

दुष्यन्त—अच्छी बात बनाई।

शकुन्तला—(अंगुली देख कर) हाय हाय! मुदरी कहाँ गई।

[बड़ी व्याकुलता से गौतमी की ओर देखती है]

गौतमी—जब तैंने शुचावतार के निकट शची तीर्थ में जल आचमन किया था तब मुदरी गिर गई होगी।

दुष्यन्त—(मुसकाकर) स्त्री की तत्काल बुद्धि यही कहलाती है।

शकुन्तला—यह तो विधान ने अपना बल दिखाया, परन्तु अभी एक पता और भी दूँगी।

दुष्यन्त—सो भी कह दे मैं सुनूँगा।

शकुन्तला—उस दिन की सुध है जब माधवी कुन्ज में तुमने कमल के पत्ते में जल अपने हाथ में लिया था।

दुष्यन्त—तब क्या हुआ?

शकुन्तला—उसी छिन मेरा पाला हुआ दीर्घापंग नाम मृगछौना आ गया। तुमने बड़े प्यार से कहा, आ छौने पहले तुही पी ले। उसने तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया फिर उसी पत्ते में मैंने पिलाया तो पी लिया। तब तुमने हँसकर कहा था कि सब कोई अपने ही सहवासी को पत्याता है, तुम दोनो एक ही बन के वासी हो।

दुष्यन्त—अपना प्रयोजन साधने वालियों की ऐसी मीठी-झूठी बातों से तो कामीजनों के मन डिगते हैं।

गौतमी—बस, राजा ऐसे वचन मत कहो। यह कन्या तपोवन में पली है, छल-छिद्र क्या जाने?

दुष्यन्त—हे वृद्ध तपस्विनी, सुनो—

बिना सिखाई चतुरई, तिरियन की विख्यात।
पशु पछिन हूँ मे लखो, मनुपन की कहा बात॥
लेति परोम्‍ आन तें, कोइलिया पलवाय।
तब लग अपने चेंटुअन, जब लग उड्यो न जाय॥१२३॥

शकुन्तला—(क्रोध करके) हे अनारी! तू अपना सा कुटिल हृदय सबका जानता है। तुझ सा छलिया कौन होगा जो घासफूस से ढके हुए की भाँति धर्म का भेष रखता है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसका कोप बनावट का सा नहीं दीखता और इसी से मेरे मन में सन्देह उपजता है क्योंकि—

बिन सुधि आय विथित चित, मैं जु रुख्यो बहु बार।
मेरो तेरो ना भयो, कहुँ इकन्त में प्यार॥
तब अति रात दृगन पै लीनी भौंह चढ़ाय
तोर्यो चाप मनोज को, मनहुँ कोप में आय॥१२४॥

पुरोहित—हे भगवती! दुष्यन्त के सब काम प्रसिद्ध हैं, परन्तु यह हमने कभी नहीं सुना तेरा ब्याह इनके साथ हुआ।

शकुन्तला—मुँह में खांड पेट में विष, ऐसे इस पुरुवंशी के फन्दे में फँस कर अब मैं निलज्ज कहलाई सी ठाव है।

[मुख पर अञ्चल डाल रोती है]

शारङ्गरव—जो काम बिना विचार किया जाय इसी भाँति दुख देता है। इसी से कहा है कि—

बिन परखे करिए नहीं, कहुँ इकन्त सम्बन्ध।
ऐसे मारग के विषय निर नकनिय ग्रन्थ॥
अनजाने मन के मरम जुरति कहूँ जो प्रीति॥
पलटि वैर बनजाति फिर पाछे यही रीति॥१२५॥

दुष्यन्त—क्या तुम इसकी बातों की प्रतीति करके मुझे इतने दोष लगाते हो?

शारङ्गरव—(अवज्ञा करके) क्या तुमने यह उलटे वेद नहीं सुना?

जिन्नहिं तैं जानी नहीं, जानै छल की रीति ।
ताके वचनन को कछु, करिए नहीं प्रतीति ॥
मान लीजिए उनहिं का, सतवादी विद्वान ।
विद्या लौं सीख्यो मनो, जिन परवञ्चन ज्ञान ॥१२६॥

दुष्यन्त—हे सत्यवादी ! भला यह भी माना कि हमने दूसरों को छलना विद्या की भाँति सीखा है, परन्तु कहो तो इस भगवती के छलने से मुझे क्या मिलेगा ?

शारङ्गरव—भारी विपत्ति ।

दुष्यन्त—नहीं, नहीं, यह बात प्रतीति न की जायगी कि पुरवंशी अपने वा पराये लिए विपत्ति माँगते हैं।

शारद्वत—हे शारङ्गरव, इस बात से क्या अर्थ निकलेगा ! हम तो गुरु का सन्देशा लाए थे सो भुगता चुके। अब चलो। (राजा की ओर देखकर)

यह तेरी नारी नृपति, तू याको भरतार।
राखन छोड़न को सबै, तोहीं कौं अधिकार ॥१२७॥

आओ गौमती आगे चलो। (दोनों मिश्र और गौतमी जाते हैं)

शकुन्तला—हाय ! इसने तो त्यागी। अब क्या तुम भी मुझ दुखिया को छोड़ जाओगे ? (उनके पीछे चलती है)

गौतमी—(खड़ी होकर) बेटा शारङ्गरव ! शकुन्तला तो पीछे-पीछे रोती आती है। अभागी को निरमोही पति ने छोड़ दिया, अब क्या करे ?

शारङ्गरव—(क्रोध करके शकुन्तला से) हे कर्महीन ! तू क्या स्वतन्त्र हुआ चाहती है ?

[शकुन्तला थरथराती है]

है जो शकुन्तला तू ऐसी। नरपति तोहि बतावत जैसी॥
तो जग मैं तू पतित कहावे। पिता गेह आवन क्यों पावे॥
अरु जो जानति है मनमाहीं। दोष कियो मैंने कछु नाहीं॥
तो तहि रहत लगे तू नीकी। दासी हू बनि के निज पी की॥१२८॥

अब तू यहीं ठहर, हम आश्रम को जाते हैं।

दुष्यन्त—हे तपस्वियो ! क्यों इसे धोखा देते हो, देखो—

चन्द्र जगावनु कुमुदिनी, पद्मिनि ही दिननाथ।
जती पुरुष कहुँ ना गहे, परनारी को हाथ॥१२९॥

शारङ्गरव—सत्य है, परन्तु तुम ऐसे हो कि दूसरी का संग पाकर अपने पहले किये को भूलते हो, फिर अधम से डरना कैसा ?

दुष्यन्त—(पुरोहित से) मैं तुमसे यह पूछता हूँ—

कै मैं ही बौरो भयो, कै झूठी यह नारि।
ऐसे संशय के विषय, तुम कछु कहो विचारि॥
किधौं दार त्यागी बनूँ, करि याको अपकार।
कै परनारी परस को, लेहुँ दोष सिर भार॥१३०॥

पुरोहित—(सोच कर) अब तो यह करना चाहिए।

दुष्यन्त—क्या करना चाहिये सो कृपा करके कहो।

पुरोहित—जब तक इस भगवती के बालक का जन्म हो तब तक मेरे घर रहे क्योंकि अच्छे अच्छे ज्योतिषियों ने आगे ही कह रखा है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र होगा। सो कदाचित इस मुनि कन्या के ऐसा ही पुत्र हो जिसके लक्षण चक्रवर्ती के-से पाये जाँय तो इसे आदर से रनवास मे लेना और न हो तो यह अपने पिता के आश्रम को चली जायगी।

दुष्यन्त—जो तुम बड़ो को अच्छा लगे सो करो।

पुरोहित—(शकुन्तला से) आ पुत्री मेरे पीछे चली आ।

शकुन्तला—हे धरती! तू मुझे ठौर दे, मैं समा जाऊँ।

[रोती हुई पुरोहित के पीछे-पीछे तपस्वियों सहित जाती है और राजा शाप के वश भूला हुआ शकुन्तला ही का ध्यान करता है]

(नेपथ्य मे)—अहा! बड़ा अचम्भा हुआ।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) क्या हुआ ?

[पुरोहित आता है]

पुरोहित—(आश्चर्य करके) महाराज बड़ी अद्भुत बात हुई।

दुष्यन्त—क्या हुआ ?

पुरोहित—जब यहाँ से कण्व के चेलो की पीठ फिरी—

निन्दा अपने भाग्य की, चली करत वह तीय।
रोई बाँह पसारि के, भई विथित मति हीय ॥१३१॥

दुष्यन्त—तब क्या हुआ ?

पुरोहित—

तब अप्सर तीरथ निकट, जाने कितते आय।
ज्योति एक तिय रूप में, लै गई ताहि उड़ाय ॥१३१ अ॥

[सब आश्चर्य करते हैं]

दुष्यन्त—मुझे जो बात पहले भास गई थी सोई हुई। अब इसमें तर्क करना निष्फल है। तुम जाओ विश्राम करो।

पुरोहित—महाराज की जय रहे। (बाहर जाते हैं)

दुष्यन्त—हे वेत्रवती ! मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है। तू मुझे शयन-स्थान की गैल बता।

प्रतिहारी—महाराज, इस मार्ग आइय।

दुष्यन्त—(चलता हुआ आप ही आप)

बिन आये सुधि ब्याह को मैं त्यागी मुनिधीय।
पै हीयो मेरो कहत, वह साँची है तीय ॥१३२॥

[सब जाते हैं]

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥

छठे अंक का प्रवेशक

स्थान—एक गली

[राजा का साला कोतवाल और दो प्यादे एक मनुष्य को बांधे हुए लाते हैं ।

पहला प्यादा (बँधुए को पीटता हुआ) अरे कुम्भिलक बतला तो यह अँगूठी तेरे हाथ कहाँ लगी इस पर तो राजा का नाम खुदा है ।

कुम्भिलक—(कांपता हुआ) दया करो मैं ऐसा अपराधी नहीं हू जैसा तुम समझते हो ।

पहला प्यादा—क्या तू कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है कि सुपात्र जान राजा ने अगूठी तुझे दक्षिणा दी हो ।

कुम्भिलक—सुनो ! मैं शुक्रावतार तीर्थ का धीवर हू ।

दूसरा प्यादा—अरे चोर, हम क्या तेरी जात पाँत पूछते हैं ।

कोतवाल—हे सूचक ! इसे अपना सब ब्यौरा आद्यापान्त कहने दो, बीच मे रोको मत ।

दोनो प्यादे जैसे कोतवाल जी कहते हैं वैसे ही कहे र ।

कुम्भिलक—मैं तो जालबसी से मछली पकड कर अपने कुटुम्ब का पालन करता था ।

कोतवाल—(हँसकर) तेरी बहुत अच्छी अजीविका है ।

कुम्भिलक—हे स्वामी ! ऐसा मत कहो ।

जो जाके कुल को धरम, सो नहिं बरजन जोग ।
निंदित हू किन होइ वह, या भाषत हैं लोग ॥

पशु मारन दारुन करम, करत विप्र बलि काज।
दखी जाति दयालुता, तिनहू म महाराज ॥१३३॥

कोतवाल—फिर क्या हुआ ?

कुम्भिलक—एक दिन एक राहू मछली मैंने काटी उसके पट म य हीरा जडी अँगूठी निकली। इस बचने को मैं दिखला रहा था तब तक तुमने आ थामा, यही इसका ब्यौरा है। अब जैसा तुम्हारे धम म आवे करो। चाहे मारो चाहे छोडो।

कोतवाल—हे जानुक! इसके शरीर स कच्च मास की बास आती है। इससे यह निश्चय गोह खान वाला धीवर है परन्तु अँगूठी मिलने के मद्द इसमे कुछ और भी पूछताछ होनी चाहिए। चलो राजा के पास चलें।

दोनों प्यादे—बहुत अच्छा। अरे गठकटे चल। (सब जाते हैं)

कोतवाल—हे सूचक! तम दोनो नगर-द्वार के सामने इसकी चौकसी करते रहो। मनवाल मन हो जाना तब तक मैं अँगूठी मिलने का ब्यौरा सुना कर राजा की आज्ञा ले आऊँ।

दोनो प्यादे—अच्छा जाओ स्वामी को प्रसन्न करो। (कोतवाल जाता है)

पहला प्यादा—हे जानुक! कोतवाल जी को बडी देर लगी।

दूसरा प्यादा—राजाओ के पास अवसर ही से जाना होता है।

पहला प्यादा—(धीवर की ओर देखकर) हे जानुक! यह अपराधी सूली पावेगा। इसके सिर पर माला रखने को मेरे हाथ खुजाते हैं[1]।

कुम्भिलक—मुझे बिना अपराध क्या मारना चाहते हो ?

दूसरा प्यादा—(देखकर) कोतवाल जी तो व हाथ म पत्र लिए आते हैं। अरे कुम्भिलक! अब तू गिद्धों का भक्षण बनेगा अथवा कुत्ते का मुख देखेगा।

[कोतवाल आता है]

कोतवाल—हे सूचक! इस धीवर को छोड दो अँगूठी का भेद खुल गया।

---

1 सूली देते समय अपराधी के गले म फूलमाला पहनाई जाती है।

सूचक—जो आज्ञा।

दूसरा प्यादा—यह तो यमराज के घर म लाट गाया। (बन्धन खोलता है)

कुम्भिलक—(कोतवाल को हाथ जोडकर) कहो स्वामी मरी आजीविका कैसी है ?

कोतवाल—अरे! महाराज की आज्ञा है कि अंगूठी का पूरा माल तुझे मिले और कुछ और भी दिया जाय सो यह ल। (द्रव्य देता है)

कुम्भिलक—(हाथ जोडकर और द्रव्य लेकर) स्वामी ने मुझ पर वडी दया की।

सूचक—दया क्या की, तुझे सूली स उतार हाथी के मस्तक पर बिठा दिया।

जानुक—कोतवाल जी इस पारितोषिक स जान पडता है कि अंगूठी वडे मोल की होगी।

कोतवाल—मेरे जाने स्वामी ने अंगूठी का रत्न तो वडे मोल का नही जाना परन्तु उसके देखने से राजा को अपने किसी प्यारे की सुध आ गई। क्योंकि यद्यपि स्वामी का स्वभाव गम्भीर है तो भी अगूठी को देखत ही थोडी देर तक उदास रहे।

सूचक—तो तुमने राजा का वडा काम किया।

जानुक—यो कहो कि इस धीवर का वडा काम किया।

[धीवर की ओर ईर्षा से देखता है]

कुम्भिलक—रिस मत हो अंगूठी का आधा मोल पुष्पमाला के पलटे तुम्हें भी दूंगा।

जानुक—तुझे ऐसा ही चाहिए।

कोतवाल—अरे धीवर! अब तो तू हमारा वडा प्यारा मित्र हुआ। चलो कलार की हाट म मदिरा को प्रथम प्रीति का साथी बनावें।

[सब जाते हैं]

॥ इति प्रवेशक ॥

अंक-६

स्थान—राजभवन की फुलवाड़ी

[आकाश से सानुमती अप्सरा विमान मे बैठी हुई जाती है]

सानुमती—जब तक सज्जनो के नहाने का समय है, अप्सरा तीर्थ पर हमको बारी बारी से जाना पड़ता है। इस काम से तो मैं निबट हुई। अब चलकर उस राजर्षि का वृत्तान्त देखूं, क्योंकि मेनका के सम्बन्ध से शकुन्तला तो मेरा अङ्ग हो गई है और मेनका ही न वही के काम निमित्त मुझे भेजा है। (चारों ओर देखकर) हैं! ऋतोत्सव के दिनों मे भी राजभवनो मे क्यों उदासी सी छा रही है। मुझे यह तो सामर्थ्य है कि बिना प्रगट हुए भी सब वृत्तान्त जान लूं, परन्तु सखी की आज्ञा माननी चाहिये। इसलिए इन उद्यान वालियों के पास ही अपनी माया के बल से अदृश्य होकर बैठूंगी। (विमान से उतरकर बैठती है)

[एक चेरी आम की मञ्जरी को देखती हुई आती है और दूसरी उसके पीछे है]

पहिली चेरी—

सरस आम की मञ्जरी, हरित पीत कछु लाल।
है सर्वस्व वसन्त तू शोभा तुही रसाल॥
प्रथम दरस तेरौ भयो, मोहि आज ही आय।
विनवति हौं तू हूजियो, ऋतु कौं मंगलदाय॥१३४॥

दूसरी—हे कोकिला! तू आप ही आप क्या कर रही है?

पहली—अरी मधुकरी! आम की मञ्जरी देख, कोकिला उन्मत्त होती ही है।

दूसरी—(प्रसन्न होकर और निकट जाकर) क्या प्यारी बसन्त ऋतु आ गई ?

पहली—हां, तेरे मधुर गीत गाने के दिन आ गए।

दूसरी—हे सखी ! कामदेव की भेंट को मैं इस वृक्ष से मजरी लूंगी, तू मुझे सहारा देकर उचका दे।

पहली—जो मैं सहारा दूंगी तो भेंट के फल से भी आधा लूंगी।

दूसरी—जो तू यह न कहती तो क्या आधा फल न मिलता ? तुझे तो विधाता ने एक प्रान दो देह बनाया है ? (सखी का सहारा लेकर मञ्जरी तोडती हैं) अहा ! ये आम की कलियाँ अभी खिली नही हैं, तो भी जिस ठौर से टूटी हैं कैसी सुहावनी महक देती हैं। (अञ्जलि बनाकर मजरी अर्पण करती है)

तोहि आम की मजरी, अरपति हो सिर नाय।
महाराज कन्दर्प के, धनुष लियो निज हाथ॥
तू पांचन मे हूजियो, सब से तीखो बान।
परदेसिन की तियन के, छेदन काज पिरान॥१३५॥

[कचुकी आता है]

कचुकी—(रिस होकर) हे बाउलियो ! राजा ने तो आज्ञा दे दी है कि अबके बरस बसन्तोत्सव न होगा। फिर तुम क्यो आम की कलियो को तोडती हो ?

दोनो—(डरती हुई) अब तो हमारा अपराध क्षमा करो, हमने नहीं जाना था कि राजा ने ऐसी आज्ञा दी है।

कचुकी—तुमने नही जाना ? बसन्त के वृक्षो ने और उनमे बसने वाले पखेरुओ ने भी तो महाराज की आज्ञा मानी है। देखो, इसी से—

यह आय घने दिन तें हैं लगी, परि देति परागन आम कली।
कलियाय कुरे की रह्यो बिरवा, परि लेत नही छवि फूल भली॥
छवि कण्ठहि कोकिल कूक रही, ऋतु यद्यपि सीत गई है चली।
मति खेंचि निपग तें बान कछू, डर मानि धर्‍यो फिर काम बली॥१३६॥

दोनो—इसमें सन्देह नही, यह राजर्षि ऐसा ही प्रतापी है।

पहली—अजी थोडे ही दिन हुए हैं कि महाराज के चरनो मे उनके साले मित्रावसु की भेजी हुई हम आई हैं और यहाँ हमको प्रमदवन की रखवाली का काम मिला है, इसलिए वह वृत्तान्त हमने पहले नहीं सुना था।

कचुकी—*हुआ सो हुआ, फिर ऐसा मत करना।*

दोनो—हे सज्जन, हमारे मन मे यह जानने की लालसा है कि राजा ने क्यो बसन्तोत्सव बरजा है। जो हम इसके सुनने योग्य हो तो कृपा करके बतला दो।

सानुमती—(आप ही आप) मनुष्य को उत्सव सदा प्यारा होता है, इसीलिए कोई बडा ही कारण होगा जिससे राजा ने ऐसी आज्ञा दी है।

कचुकी—(आप ही आप) यह तो प्रसिद्ध बात है। इसके कह देने मे क्या दोष (प्रकट) क्या शकुन्तला के त्याग की चरचा तुम्हारे कानो तक नहीं पहुँची।

दोनो—हाँ! अँगूठी मिल जाने तक का ब्यौरा तो हमने राजा के साले के मुख से सुन लिया है।

कचुकी—तो मुझे थोडा ही कहना रहा। सुनो, जब महाराज को अपनी अँगूठी देख कर सुध आई तो तुरन्त कह दिया कि शकुन्तला से एकान्त मे मेरा ब्याह हुआ था और मैंने उसे बेसुधी मे त्यागा, जब से यह सुध आई है तब से स्वामी पछतावे मे पडे हैं।

सुखसामा अब कछु न सुहावे। मत्रीगण न निकट नित आवे॥
जागत जाति राति सब काटी। लेत करोट सेज की पाटी॥
जब रनवास जाय बतरावे। सम्य बचन निज तियन सुनावे॥
फिरि फिरि भूल करत नामन म। चुप रह जात लजायो मन म॥४३७॥

सानुमती—(आप ही आप) यह बात तो मुझ प्यारी लगती है।

कचुकी—इसी विलाप के कारण बसन्तोत्सव बरज दिया गया है।

दोनो—*यह तो उचित ही था—*

(नेपथ्य में)—इधर आइए, इधर आइए।

कचुकी—(कान लगाकर) महाराज इधर ही आ रहे हैं। जाओ, तुम अपना अपना काम देखो।

दोनो—अच्छा। (दोनों जाती हैं)

[राजा विलापियों के भेष मे आता है। प्रतिहारी और माढव्य साथ हैं]

कचुकी—(राजा की ओर देखकर) सत्य है। तेजस्वी पुरुष सभी अवस्था मे अच्छे लगते हैं। हमारे स्वामी यद्यपि उदासी म हैं तो भी इनका दर्शन कैसा मनोहर है।

भूपन उतारे साज मडन के दूर डारे,
कङ्कन ही एक हाथ बाएँ राखि लीनो है।
ताती ताती श्वासन विनास्यौ रूप होठन को,
नीको लाल रग मारि फीको पारि दीनो है॥
सोचत गमाई नींद जागत बिताई राति,
आँखिन म आय के ललाइ बास कीनो है।
तेज के प्रताप गात कृशहू लखात नीका,
दीपक चढायो सान हारा जिमि छीनो है॥१३८॥

सानुमती—(राजा की ओर देखकर) शकुतला अपना अनादर हुए पर भी इसके विरह म व्यथित हो रही है सो क्या न हो? वह इसी योग्य है।

दुष्यन्त—(बहुत सोचता हुआ इधर उधर फिर कर)

चेतायो चेत्यो नहीं, मृगनैनी जब आप।
अब चेत्यो यह हत हिया सहन काज सताप॥१३९॥

सानुमती—(आप ही आप) अहा उस तपस्विनी क बड भाग्य हैं।

माढव्य—(आप ही आप) इस का शकुतला रूपी व्याधि न फिर घरा, न जानू क्या उपाय होगा?

कचुकी—(दुष्यन्त के पास जाकर) महाराज की जय हो! ह प्रभु! मैं प्रमद वन को भली भाँति देख आया! आप चल कर जहा इच्छा हो उस आनन्द के स्थान म विश्राम कीजिए।

दुष्यन्त—ह प्रतिहारी! तू हमारा नाम लेकर पिशुन मन्त्री स कह दे कि बहुत जागने स हमम धर्मासन पर बैठन की सामर्थ नहीं रही। इसलिए जो कुछ काम काज प्रजा-सम्बन्धी हो लिखकर हमारे पास यही भज दें।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (बाहर जाता है)

दुष्यन्त—वातायन! तू भी अपने काम पर जा।

कचुकी—जो आज्ञा महाराज की। (बाहर जाता है)

माढव्य—तुमने यह जगह तो भली निर्मक्ष[1] कर दी। अब-घाम शीत को मिटाने वाली इस प्रमद बन की रमणीक कुंज में मन बहलाओ।

दुष्यन्त—हे माढव्य ! यह कहावत कि आपदा छिद्र-देखती रहती है सच है, क्योंकि—

मुनि दुहिता सङ्ग ब्याह की, सुरति नसावनहार।
अब ही मो मन तें टर्‌यो अन्धकार भ्रमभार॥
तौ लौं मनसिज धनुष लै, आयो लगी न वार।
आम मंजरी बान धरि, मो पै करन प्रहार॥१४०॥

माढव्य—नैंक ठहरो ! मनसिज के बानों को अभी लाठी से तोड़े डालता हूं।

[आम की मञ्जरियों को लाठी उठाकर झरने को खड़ा होता है]

दुष्यन्त—(मुसकाकर) हाँ, मैंने तेरा ब्रह्मतेज देख लिया। बता मित्र, अब कहाँ बैठकर प्यारी की उनहार वाली लताओं से आँख ठण्डी करूँ।

माढव्य—क्या तुमने दासी चतुरिका को आज्ञा नहीं दी कि हम इस समय माधवी मण्डप में मन बहलावेंगे। तू जाकर वहीं उस पट्टी को ले आ, जिसमें मेरे हाथ का खींचा हुआ भगवती शकुन्तला का चित्र है।

दुष्यन्त—जो ऐसा मनोहर स्थान है तो माधवी मण्डप का मार्ग बतला।

माढव्य—इस मार्ग आओ मित्र।

[दोनों चलते हैं और सानुमती पीछे-पीछे जाती है]

माढव्य—जहाँ मणिजटित पटिया बिछी है, यही माधवी कुंज है। निस्सन्देह यह ऐसी दीखती है मानो मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो यहीं बैठें। (दोनों कुंज में बैठते हैं)

सानुमती—(आप ही आप) इस लता की ओट में बैठकर मैं भी अपनी सखी का चित्र देखूँगी, फिर उसके पति का बड़ा अनुराग जाकर उससे कहूँगी ! (लता की ओट में बैठती है)

दुष्यन्त—हे मित्र ! अब मुझे शकुन्तला से पहले वृत्तान्त की सब सुध

1. निर्मक्ष=निर्मल, जहाँ कोई मक्खी भी न हो।

आ गई। मैंने तुझसे भी तो कहा था, परन्तु जिस समय मुझसे उसका अनादर बना तू मेरे पास न था। अब तक तैंने भी कभी नाम न लिया, सो क्या तू भी मेरी ही भाँति उसे भूल गया था।

माढव्य—नहीं नहीं, मैं नहीं भूला था, परन्तु जब तुम सब बात कह चुके थे तब यो भी तो कहा था कि यह स्नेह की कहानी हमने मन बहलाने को बनाई है और मुझ गोबर गनेश ने तुम्हारे कहने को अपने भोले भाव से प्रतीति कर लिया था। भवतव्यता प्रबल है।

सानुमती—(आप ही आप) ठीक कहा।

दुष्यन्त—(शोक मे) हे सखा! मुझे दुख से छुडा।

माढव्य—यह तुम्ह क्या हुआ है? सत्पुरुषो के शोक मे अधीर होना योग्य नही। देखो पवन कैसे ही चले, पर्वत को नही डिगा सकती।

दुष्यन्त—हे मित्र! जिस समय मैंने प्यारी का परित्याग किया, उसकी ऐसी दशा थी अब सुध करके मैं व्याकुल हुआ जाता हू!

मैं न लई अबला लगी, निज साथिन सङ्ग जान।
हटकि कही रहि-रहि यहीं, मुनिसुत पिता समान॥
तब जु दीठि मो तन करी, आंसुन भरी रसाल।
दहति निठुर मेरो हियो, मनहु विष भरी भाल॥१४१॥

सानुमती—(आप ही आप) अहा! स्वार्थ कैसा प्रबल होता है कि इसका सन्ताप हो मुझ सुहाता है।

माढव्य—मेरे विचार मे तो यह आता है कि उस भगवती को कोई देवता उठा ले गया।

दुष्यन्त—ऐसी पतिव्रता को छूने की भी किसम सामर्थ हो सकती है। मैंने सुना है कि उसकी माँ मेनका अप्सरा है सो उसकी सखियाँ ले गई होगी यह शङ्का मेरे मन म आती है।

सानुमती—(आप ही आप) सुध का भूलना अचरज की बात है, न कि सुध का रहना।

माढव्य—मित्र, जो यही बात है तो उसके मिलने मे कुछ विलम्ब मत जानो।

दुष्यन्त—क्यो, यह कैसे जाना?

माढव्य—ऐसे जाना कि माँ बाप अपनी बेटी को पति-वियोग में बहुत दुखी नहीं देख सकते।

दुष्यन्त—हे मित्र—

सपनो हो कै भ्रम कछू, कै माया को जाल॥
अपु कै फल मेरे को, प्रगट मिट्यौ तत्काल॥
वा सुख के फिर मिलन की, आस रही कछु नाँहि।
परे मनोरथ जाय मम, अब प्रवाह के माँहि॥१४२॥

माढव्य—ऐसा मत कहो। देखो मुदरी ही दृष्टान्त इस बात का है कि खोई हुई वस्तु फिर मिल सकती है। दैव इच्छा सदा बलवान है, अकस्मात भी समागम हो जाता है।

दुष्यन्त—(मुदरी को देखकर) हाय! यह मुदरी भी अभागी है, क्योंकि ऐसे स्थान से गिरी है जहाँ फिर पहुँचना दुर्लभ है।

हे मुदरी तेरो सुकृत, मेरो ही सौ हीन।
फल सो जान्यो जात है, मैं निरनै करि लीन॥
अधिक मनोहर अरुणनख, उन अँगुरिन कों पाय।
गिरी फेर तू आप जब, पुन्न गयो निबटाय॥१४३॥

सानुमती—(आप ही आप) जो किसी और के हाथ पड़ती तो निःसंदेह इस मुदरी का भाग्य खोटा गिना जाता।

माढव्य—कृपा करके यह तो कहो कि मुदरी उस भगवती की अँगुली तक कैसे पहुँची थी।

सानुमती—(आप ही आप) मैं भी यही सुनना चाहती थी।

दुष्यन्त—सुनो, जब मैं तपोवन से अपने नगर को चलने लगा तब प्यारी ने आँखें भरकर कहा कि आर्यपुत्र! फिर कब सुध लोगे।

माढव्य—भला फिर।

दुष्यन्त—तब यह मुदरी उसकी अँगुली में पहनाकर मैंने उत्तर दिया कि—

अक्षर मेरे नाम को, दिन दिन गिनियो एक।
या मुदरी के माँहि तू करि अपने मन टेक॥

निहचे करि के जानियो, पिछलो दिन जब होइ।
आवेगो रमवाह तें, आज लिवावन कोइ ॥१४४॥

परन्तु हाय ! मुझ निर्दयी को यह सुध न रही।

सानुमती—(आप ही आप) मिलने की अवधि तो अच्छी रखी थी, परन्तु विधाता ने बिगाड दी।

माढव्य—फिर वह मुदरी धीवर की काटी हुई रोहू के पेट मे कैसे गई ?

दुष्यन्त—जिस समय प्यारी ने सची तीर्थ से आचमन को जल लिया, हाथ से गगा जी में मुदरी गिर पडी।

माढव्य—ठीक है।

सानुमती—(आप ही आप) अहा ! यही बात है कि इस राजर्षि ने अधर्म से डरकर तपस्विनी शकुन्तला के साथ ब्याह होने मे सन्देह किया, परन्तु मुदरी के देखने से इतना अनुराग इसे क्योकर हुआ ?

दुष्यन्त—इसीलिए मैं इस मुदरी की निन्दा करता हूँ।

माढव्य—(आप ही आप) इसने तो उन्मत्तो का मार्ग लिया है।

दुष्यन्त—

यह तोपै कैसे बनी, अरी मूदरी हाय।
उन कोमल अँगुरीन तजि, पैठी जल मे जाय !

परन्तु—

नाहि अचेतन वस्तु को, गुन औगुन को ज्ञान।
मैं चेतन ह्वै क्यो कियो, प्यारी को अपमान ॥१४५॥

माढव्य—(आप ही आप) यह तो मुदरी के ध्यान मे है। मैं क्यो भूखा मरूँ ?

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तुझे निष्कारण त्यागा, अब दयालु हो कर मुझ तप्त हृदय को फिर दर्शन दे।

[एक स्त्री चित्र हाथ मे लिए आती है]

चतुरिका—महाराज देखिये, महारानी का चित्र यह है।
(चित्र दिखाती है)

माढव्य—हे सखा! यह चित्र ठीक बना है, जो वस्तु जहाँ जैसी चाहिये वहाँ वैसी ही लिखी है। मेरी दृष्टि तो इस की ऊँचाई-निचाई में धोखा-सा खा जाती है।

सानुमती—(आप ही आप) अहा! धन्य है इस राजर्षि की निपुणता चित्र में सखी मुझे ऐसी दीखती है मानो साक्षात सामने खड़ी है।

दुष्यन्त—

जो जो बात न चित्र में, सक्यो यथारथ लाय।
सो सो मन ने अन्यथा, मन तें दई बनाय॥
तऊ रूप लावण्य छवि, वाके तन की आय।
झलकति सी रेखान मे, कछु कछु परवि लखाय॥१४६॥

सानुमती—(आप ही आप) यह वचन स्नेह के, बड़े पछतावे के योग्य ही हैं और निरभिमान के भी।

माढव्य—यहाँ तो तीन भगवती दीखती हैं, और सभी देखने योग्य हैं। इनमें भगवती शकुन्तला कौन सी है ?

सानुमती—(आप ही आप) इसने उस रूपवती का दर्शन नहीं किया, इससे इसकी आँखें निष्फल हैं।

दुष्यन्त—भला बतला तो इनमें किसको तू शकुन्तला जानता है ?

माढव्य—मेरे जाने तो यही शकुन्तला होगी, जिसका केशबन्ध ढीला हो बालों से फूल गिरते हैं। शरीर कुछ थका हुआ-सा दीखता है। पसीने की बूँदें मुख पर ढलक रही हैं। निराली भाँति बाँह फैला रही है और इस सींचे हुए नई कोंपलों वाले आम के पास खड़ी है। आस पास दोनों सखी होंगी।

दुष्यन्त—तू बड़ा प्रवीन है। देख इस चित्र में मेरे सात्विक भाव के चिन्ह हैं।

लगो पसीजो आँगुरी, दीखति रेख मलीन।
आँसू गिरे कपोल पै, रंग फीको करि दीन॥१४७॥

हे चतुरिका! अभी इस विनोदस्थान का चित्र पूरा नहीं बना। तू जाकर चित्र बनाने की सामग्री ले आ।

चतुरिका—लो माढव्य, जब तक मैं आऊँ चित्रपटी थामे रहो।

दुष्यन्त—ला, तब तक हमी लिये रहेंगे (चित्र हाथ मे लेता है)

[चतुरिका जाती है]

दुष्यन्त—हाय !

जब प्यारी मो सन्मुख आई । करी अधिक मैंने निठुराई ॥
चित्रलिखी अब लखि लखि वाको । फिर फिर आदर देत न थाको ॥
बहती नदी उतरि जिमि कोई । मृगतृष्णा को धावत होई ॥
सो गति आनि भई अब मेरी । होति पीर पछतात घनेरी ॥१४८॥

माढव्य—(आप ही आप) यह तो नदी उतर मृगतृष्णा मे पडा है (प्रगट) मित्र, अब इसमे क्या लिखना रहा है ।

सानुमती—(आप ही आप) मेरे जाने तो अब राजा उन स्थानो को लिखेगा जो मेरी सखी को प्यार थे ।

दुष्यन्त—सुन—

लिखन काज अब ही रह्यो, बहत मालिनी नीर ।
हसन की जोडी सुभग, राजति जाके तीर ॥
दुहू ओर पावन लिखू, हिमवत चरन बहार ।
बैठे हरिन सुहावने, जिन पै करत जुगार ॥
चाहत हूँ औरहु लिखूँ, तरवर एक अनूप ॥
डारिन पै वल्कन वसन परे लगन को धूप ॥
नीचे ताही रूख क हिरनी लिखू बनाय ।
दृग कर सायर सींग तें, बायो रही खुजाय ॥१४६॥

माढव्य—(आप ही आप मेरे जाने तो इसे चाहिए कि चित्रपटी को दाढी वाले तपस्वियो से भर दे ।

दुष्यन्त—हे मित्र ! यहाँ शकुन्तला का एक आभूषण लिखना चाहता था, सो भूल गया ।

माढव्य—कैसा आभूषण ?

सानुमती—(आप ही आप) जैसा वन युवतियो का होता है ।

दुष्यन्त—हे मित्र !

आनन पै न लिख्यो गयो, सिरसपुष्प सुकुमार ।
लटकत आप कपाल पै, जाके केसर बार ॥

तौलौं तैं मोको वृथा, सुरति दिवाई मित्र।
अब प्यारी फिर रहि गई, लिखी चित्र की चित्र ॥१५३॥

[आंसू डालता है]

सानुमती—(आप ही आप) विरह की गति निराली है। जिधर देखता है, वैसा ही दृष्टि आता है।

दुष्यन्त—हे मित्र! अब मैं यह घड़ी-घड़ी का दुख कैसे सहूं।

नित के जागत मिटि गयो, वा सग सुपन मिलाप।
चित्र दरसहू कों लख्यो, आंखिन आंसू पाप ॥१५४॥

सानुमती—(आप ही आप) तैंने शकुन्तला के अपमान का दुख सब धो दिया।

[चतुरिका आती है]

चतुरिका—स्वामी की जय हो! मैं रंगों का डिब्बा लिये इधर आती थी।

दुष्यन्त—तब क्या हुआ?

चतुरिका—महारानी वसुमती ने तरलिका सहित मार्ग में आकर मेरे हाथ से डिब्बा छीन लिया और कहा कि इसे मैं ही महाराज को चलकर दूंगी।

माढव्य—अच्छा हुआ कि तू बच आई।

चतुरिका—रानी का वस्त्र एक कांटे के वृक्ष में अटक गया। उसे छुड़ाने में तरलिका लगी तब तक मैं निकल आई।

दुष्यन्त—हे सखा! मानगर्विता रानी वसुमती आती है, तू इस चित्र को छुपा ले।

माढव्य—यों क्यों न कहो कि मुझे छुपा ले (यह कहता चित्र को लेकर उठता है) जब तुम रनवास के कालकूट से छूट जाओ तो मुझे मेघप्रतिच्छन्द भवन से बुला लेना। (बिग-बेग जाता है)

सानुमती—(आप ही आप) दूसरी में आसक्त होकर भी यह पहली प्रीति निबाहता है, परन्तु अब इस नारी में इसका अनुराग थोड़ा ही दीखता है।

[प्रतिहारी पत्र हाथ में लिए आती है]

प्रतिहारी—महाराज की जय हो।

दुष्यन्त—हे प्रतिहारी ! तैंने महारानी वसुमती को तो मार्ग में नहीं देखा ?

प्रतिहारी—हाँ महाराज ! मुझे मिली तो थीं, परन्तु मेरे हाथ में चिट्ठी देखकर उलटी लौट गईं।

दुष्यन्त—रानी समय को पहचानती हैं। मेरे काम में विघ्न डालना नहीं चाहती।

प्रतिहारी—महाराज ! मन्त्री ने यह विनती की है कि आज भंडार में रुपया बहुत आया। उसके गिनने से अवकाश न था। इसलिए केवल एक ही पुरकाज हुआ है सो इस पत्र में लिख दिया है, आप देख लें।

दुष्यन्त—लाओ, चिट्ठी दिखलाओ।

[प्रतिहारी चिट्ठी देती है]

दुष्यन्त—(चिट्ठी बाँचता है) 'समुद्र-व्यवहारी धनमित्र नाम सेठ नाव में डूब कर मर गया। पुत्र कोई नहीं छोड़ा। उसका धन राज भंडार में आना चाहिए।' (शोक से) हाय ! निपुत्री होना कैसे शोक की बात है। परन्तु जिसके इतना धन था उसकी स्त्री भी कई होंगी। इसलिए पहले यह पूछ लेना चाहिए कि उन स्त्रियों में कोई गर्भवती है कि नहीं।

प्रतिहारी—महाराज ! सुना है कि उसकी एक स्त्री, जो अयोध्या के सेठ की बेटी है, अभी गर्भाधान संस्कार हुआ है।

दुष्यन्त—गर्भ का बालक पिता के धन का अधिकारी होता है। जा मन्त्री से ऐसा ही कह दे।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (बाहर जाती है)

दुष्यन्त—ठहर तो।

प्रतिहारी—(फिर आकर) महाराज, मैं आई।

दुष्यन्त—इससे क्या है ? सन्तान हो कि न हो।

केवल पापिन के बिना, मम परजा के लोग।
जो जो प्यारे बन्धु को, विधिवस रहैं वियोग ॥

गिनें नृपति दुष्यन्त को, ताही ताकी ठौर।
नगर ढँढोरा देहु यह, कहो कछू मति और ॥१५५॥

प्रतिहारी—यही ढँढोरा हो जायगा।

[बाहर जाकर फिर आती है]

प्रतिहारी—महाराज की आज्ञा ने नगर मे ऐसा आनन्द दिया है, जैसे योग्य समय की वर्षा देती है।

दुष्यन्त—(गहरी श्वास लेकर) जिस कुल मे आगे को सन्तान नही होती, उसकी सम्पत्ति मूल पुरुष के मरे पीछे यो ही पराये घर जाती है। किसी दिन मेरे पीछे पुरुवश का वैभव भी ऐसा रह जायेगा जैसे अकाल मे बोई हुई भूमि।

प्रतिहारी—ईश्वर ऐसा अमगल न करे।

दुष्यन्त—धिक्कार है मुझे कि मैंने प्राप्त हुए सुख को लात मारी।

सानुमती—(आप ही आप) निश्चय इसने अपनी निन्दा मेरी सखी की सुध करके की है।

दुष्यन्त—

वश प्रतिष्ठा मैं तजी निज पत्नी निष्पाप।
बैठ्यो जाके गर्भ मे, जन्म लेन हित आप॥
समय पाय बोई मनो, वसुन्धरा कृषिकार।
त्यागि दई फिर आप ही फल आवन की बार॥१५६॥

सानुमती—(आप ही आप) तेरा वश अटूट रहेगा।

चतुरिका—(प्रतिहारी से) हाय! सेठ के इस वृत्तान्त ने स्वामी की क्या गति कर दी। इनका चित्त बहलाने के लिए जा तू माढव्य को मेघ-प्रतिच्छन्द भवन से लिवा ला।

प्रतिहारी—ठीक कहती है। (बाहर जाती है)

दुष्यन्त—धिक्कार है मुझे जिसके पितृ इस समय मे पड़े हो कि—

कुल हमरे मे होइ, या नें पाछें कौन जो।
विधिवत काव्य सजोइ, नित्त हमें तर्पित करे॥

पुत्रहीन मैं देतु जल, मिलत उन्हें अब मोइ।
ताहू में ते वचन जो, अश्रु पोंछि कर धोइ॥ १५७॥

[शोक से मूर्छित होता है]

चतुरिका—(अचम्भे से देखकर) महाराज! सावधान हों।

सानुमती—(आप ही आप) हाय! इस समय इसकी ऐसा दशा है जैसे सन्मुख दीपक होते हुए भी ऊपर अञ्चल आ जाने से किसी को अँधेरा ही दीखता हो। अभी इस का दुःख दूर कर देती, परन्तु क्या करूँ? इन्द्र की माता के मुख से शकुन्तला को यों समझाते सुन चुकी हूँ कि यज्ञभाग के अभिलाषी देवता ऐसा करेंगे जिससे तेरा भरता थोड़े ही काल में तुझ धर्मपत्नी को आनन्द देगा। इसलिए जब तक वह शुभ घड़ी आवे तब तक मुझे कुछ न करना चाहिए। हाँ, इतना तो करूँगी कि अपनी प्यारी सखी को इस वृत्तान्त से धीरज बँधाऊँ। (उड़ जाती है)

(नेपथ्य में)—कोई बचाओ, कोई बचाओ।

दुष्यन्त—(सावधान होकर और कान लगाकर) हैं! यह तो माढव्य का सा रोना है। कोई है रे, कोई है रे।

(प्रतिहारी आती है)

प्रतिहारी—हे देव! आपत्ति में पड़े हुए अपने मित्र को बचाओ।

दुष्यन्त—किसने इसका अपमान किया है?

प्रतिहारी—बिना दीखते हुए किसी भूत-प्रेत ने इसे पकड़ कर मेघप्रतिच्छन्द भवन की मुण्डेल पर रख दिया है।

दुष्यन्त—अरे दुष्ट! मेरे मित्र को मत सता। क्या मेरे घर में भी भूत-प्रेत आने लगे! सच है।

अपने हू पग को मरम, आप न जान्यो जात।
सावधान ह्वै ना चलैं, नित ठोकर नर खात॥
तो फिर कैसे मैं कौं, जान पराई बात।
को को मेरी प्रजा में, का का मारग जात॥ १५८॥

(नेपथ्य में)—सखा चलियो, चलियो।

दुष्यन्त—(सुनता है और दौड़ता हुआ) डरे मत मित्र, कुछ भय नहीं है।

(नेपथ्य मे)—भय क्यों नही है। यह तो मेरे कण्ठ को पकडे ईख की नाई ऐंठे डालता है।

दुष्यन्त—(चारो ओर देखता हुआ)—है रे कोई मेरा धनुष लावे।

यवनी—(धनुष लिये आती है)–महाराज हस्तावार[1] सहित धनुष यह है।

[दुष्यन्त धनुष बाण लेता है]

(नेपथ्य मे)—प्यासो तेरे कण्ठ के, सद लोहू को आज।
तोहि तरफतो मारिहौं, ज्यो पशु को मृगराज॥
अब कित है दुष्यन्त जो, दैन अभय को दान।
तुरतहि अपने धनुष पैं, तानि चढावत बान॥ १५६॥

दुष्यन्त—(क्रोध से) हैं! यह तो मुझे भी चिनौती देता है। अरे मरी लोथ के खाने वाले खडा रह! मैं आया! अब तेरी मृत्यु समीप पहुची। (धनुष चढा कर) प्रतिहारी! सीढी दिखला।

प्रतिहारी—गैल यह है महाराज। (वेग वेग आते हैं)

दुष्यन्त—(चारों ओर देखकर) है! यहाँ तो कोई नहीं है।

नेपथ्य मे—बचाओ, कोई मुझ बचाओ। महाराज मैं तो तुम्हे देखता हूँ, तुम्ही मुझे नही देखते। इस समय अपने जीव से ऐसा निराश हो रहा हू जैसे बिलाव का पकडा मूसा।

दुष्यन्त—हे मायाजाल के अभिमानी! तू मुझे नही दीखता तो क्या है? मेरे बाण को तो दीखेगा। अब देख मैं बाण चढाता हूँ जो—
तो पापी का मारि लेगा द्विजहि बचाय या।
जैसे लेत निकारि, हस नीर ते दूध का॥ १६०॥

[धनुष पर बाण चढाता है]
[माढव्य को छोड कर मातलि आता है]

मातलि—दीने तरे अस्त्र को, हरि ने असुर बताय।
तिनही पैं खिंचि लेहि तू अपनो धनुष चढाय॥
मित्रन पैं छोडत नही, सज्जन तीखे बान।
पैं डारन नित प्रीति की, मृदुल दीठि सुखदान॥ १६१॥

---

1 वह वस्त्र जो धनुष प्रत्यचा की फटकार से बाँह को बचाने के लिए पहुँचे पर धारण किया जाता है।

दुष्यन्त—(शस्त्र उतारता हुआ)—आओ इन्द्र के सारथी, तुम भले आये।

[माढव्य आता है]

माढव्य—हैं ! जो मुझे बलि पशु की भांति मारे डालता था, उसका यह आदर करता है।

मातलि—(मुसकाकर) महाराज ! जिस काम के लिए इन्द्र ने मुझे आपके पास भेजा है, सो सुन लो।

दुष्यन्त—कहो, मैं सुनता हूँ।

मातलि—कालनेमि के वंश में दानवों का ऐसा एक गण प्रबल हुआ है कि उसका जीतना इन्द्र को कठिन हो रहा है।

मातलि—जीत्यो गयो न इन्द्र पै, दल सों जो रिपुवंस।
रन अगमानी तुम किए, करन ताहि विध्वंस॥
अन्धकार जिमि राति को, सकत न भानु मिटाय।
पै रजनीपति दरस तैं, सहजहि जात बिलाय॥ १६२ ॥

अब तुम हथियार बाँधो और इन्द्र के रथ पर चढ़ कर विजय को चलो।

दुष्यन्त—देवराज ने यह आदर देकर मेरे ऊपर बड़ी कृपा की, परन्तु यह कहो कि माढव्य को तुमने ऐसा क्यों सताया ?

मातलि—किसी कारण आपको मैंने उदास देखा तब रोष दिलाने के लिए यह काम किया था, क्योंकि—

ईंधन के टारे बिना, बढ़ति न पावक जोइ।
फण न उठावत नागहू जो छेड़्यो नहिं होई॥
नर न लहत अभिमान मन, बिना क्षोभ कछु पाय।
कहियत इन तीनान के, बहुधा यही सुभाय॥ १६३ ॥

दुष्यन्त—(माढव्य से हौले) हे सखा ! देवपति की आज्ञा उल्लंघन योग्य नहीं है। इससे तू पिशुन मन्त्री को यह समाचार सुना कर मेरी ओर से कह देना कि—

लग्यो और ही काम मे, जब लग मेरो चाप।
तब लगि परजा पालि तू, अपनी मति सों आप॥ १६४॥

माढव्य--जो आज्ञा। (जाता है)

मातलि--महाराज रथ पर चढिये।

[दुष्यन्त रथ पर चढ़ता है और सब जाते हैं]

अंक ७

[दुष्यन्त और मातलि रथ पर बैठे हुए आकाश से उतरते हैं]

दुष्यन्त—हे मातलि ! यह तो सच है कि मैंने इन्द्र की आज्ञा पाली, परन्तु फिर भी मैं अपने को इस बड़े आदर के योग्य नहीं जानता हूँ जो देवनायक ने मुझे दिया।

मातलि—(हँसकर) महाराज ! दोनों का यही सकोच है।

तुम हरि को ऐतो कियो, यदपि बड़ो उपकार।
ताहि न मानत हो कछू, देखि इन्द्र सत्कार॥
जानि तुम्हारी वीरता, चकित वहू मन माहि।
दियो इतौ आदर तऊ, गिनत ताहि कछु नाहि॥ १६५॥

दुष्यन्त—ऐसा मत कहो। इन्द्र ने विदा करते समय मेरा इतना सम्मान किया जितने की आशा न थी, क्योंकि देवताओं के देखते मुझे अपनी आधी गद्दी पर बिठाया और—

जाहि मिलन की धरि मन आसा। ठाडो हो जयन्त हू पासा॥
सो माला मदार सुमन की। लै उर तें लिपटी चन्दन की॥
हँसि मुसकाय सुवन की ओरी। कृपादीठि मोतिन हरि मोरी॥
अपने कर मेरे गल डारी। यह आदर दीनो मुहि भारी॥ १६६॥

मातलि—ह राजा ! देवताओं स आप किस किस सत्कार के योग्य नहीं हो ?

सुरपुर को द्वै ही कियो दानव कण्टक दूर।
आगे नख नरसिंह के, अब तेरे शर क्रूर॥ १६७॥

दुष्यन्त—हमको इस यश का मिलना भी देवनायक की महिमा का ही फल है, क्योंकि—

बारज सिद्ध बडो जब होई। सेवक जन हाथन ते कोई ॥
वारन तासु जानि मन लीजै। स्वामि कृपा सदेह न कीजै ॥
अरुण कहाँ इतनो बल पावै। रैन अँधेरी आन मिटावै ॥
देहि ठौर वाको यदि नाही। रवि अपने आगे रथ माही ॥ १६८ ॥

मातलि—ठीक है! (थोडी दूर चल कर) हे राजा! इधर दीठ करके अपने स्वर्ग तक पहुँचे हुए यश का गौरव देखो।

सुर युवतिन अगराय तें, बचे कछू जो रङ्ग।
तिनसों देवा लिखत ये, तेरे चरित प्रसङ्ग ॥
आछे सुरतरु पवन पैं, मधुरे गीत बनाय।
सोचत बैठे सरस पद, गहरो ध्यान लगाय ॥ १६९ ॥

दुष्यन्त—हे मातलि! दानवो को मारने के उत्साह में पहले दिन इधर से जाते हुए हमने स्वर्ग मार्ग भली भाँति नही देखा था। अब तुम कहो इस समय हम पवनो के किस पन्थ म चलते हैं।

मातलि—यह मग हरि पावन कियो दूजो पैंड बढाय।
है याकी वह पवन जो, परिवह जाति कहाय ॥
वही पवन नभ गग को नितप्रति रहो बहाय।
बाँटि किरन इत उत वही जोतिन दलि घुमाय ॥ १७० ॥

दुष्यन्त—हे मातलि! इसी से मेरी आत्मा बाहर भीतर की इन्द्रियो सहित आनन्द को पहुँची है। (रथ के पहियों को देखकर) अब तो हम मेघो के मार्ग मे उतर आए।

मातलि—यह आपने क्योकर जाना।

दुष्यन्त— निकसि अरन के बीच ह्वै इत उत चातक जात।
तुरगन हू के अङ्ग पैं, बिज्जुछटा लहरात ॥
भीगे पहिया मेह म, रथ ही देत बताय।
नीर भरे बदरान पैं, अब हम पहुँचे आय ॥ १७१ ॥

मातलि—अभी एक क्षण मे आप अपने राज्य मे पहुँचते हैं।

दुष्यन्त—(नीचे देख कर) वेग से उतरने में मनुष्य लोक अचरज सा दीखता है ।

दीखत शैल-शिखर उठनो सी । पहुमि जाति नीचे खसती सी ॥
रहे रूख जो पात दबे से । लगत कन्ध तिनके निकसे से ॥
सरित लगी जो मनहु सुखानी । परत दीठि इनमें अब पानी ॥
आवत लोरहु ओर हमारी । जिमि ऊपर को दियो उछारी ॥ १७२ ॥

मातलि—आपने भला देखा ! (पृथ्वी को आदर से देख कर) अहा ! मनुष्य लोक कैसा रमणीक दिखाई देता है ।

दुष्यन्त—मातलि बतलाओ तो पूरब पच्छिम के समुद्रों के बीच वह कौन-सा पहाड़ है जिससे सुनहरी धारा ऐसी निकलती है मानो सन्ध्या के मेघ से अर्गला ।

मातलि—महाराज ! यह तपस्या का क्षेत्र किन्नरों का हेमकूट नाम पर्वत है ।

सुत मरीच नाती कुबच, देवदनुज के तात ।
तपत यहाँ परजापती, सहित सुरन की मात ॥ १७३ ॥

दुष्यन्त—तो कल्याण प्राप्त करने के अवसर को चूकना न चाहिए, आओ उनको प्रणाम करते चलें ।

मातलि—यह विचार आपका बहुत उत्तम है । (दोनों उतरते हैं)

दुष्यन्त—(आश्चर्य से)—

भयो न इन पहियान तें, कछु ताके हू सोर ।
धूरि उठत दीखी नहीं, मोरो कहू आर ॥
जो अपने रथ को रह्यो तू मातलि सन्धानि ।
लख्यो न भूतल आय के, ताते पर्यो न जानि ॥ १७४ ॥

मातलि—हे राजा ! आपके और इन्द्र के रथ में इतना ही तो अन्तर है ।

दुष्यन्त—कश्यप का आश्रम कहाँ है ।

मातलि—(हाथ से दिखला कर)—

जहँ वह अचल ठूँठ सी ठाढ़ी । ठाढ़ो मुनि, मुख करि रवि साईं ॥
आधे तन बाँबी चढ़ि आई । सर्प तुचा छाती लपटाई ॥

कण्ठ परी अध मूगी बेली। पीड़ित ग्रन्ध कसी जिमि सेली ॥
जटाजूट कन्चन पर छाये। जिनमें पच्छिन नीड़ बनाये ॥१७५॥

दुष्यन्त—ऐसे उग्र तप वाले को नमस्कार है।

मातलि—(घोड़ों की रास खींचकर) महाराज, अब हम प्रजापति के उस आश्रम मे आ गये हैं, जो अदिति के सींचे हुए मन्दारो से सुशोभित है।

दुष्यन्त—यह तो स्वर्ग से भी अधिक निर्वृत्ति स्थान है। इस समय मैं ऐसा हो रहा हूँ मानो अमृत के कुण्ड मे नहाता हूँ।

मातलि—(रथ ठहराकर) महाराज! अब उतर लीजिये।

दुष्यन्त—(रथ से उतरकर) तुम रथ छोड़कर कैसे चलोगे?

मातलि—मैंने यत्न कर दिया है। रथ आप से आप यहाँ रहेगा, चलिये मैं भी आपके साथ चलता हूँ। (रथ से उतरता है) महाराज! इस मार्ग से आओ। महात्मा ऋषियो का तपोवन देखो।

दुष्यन्त—मैं आश्चर्य से देखता हूँ।

करत और मुनि तपितपियासा। जायल माहि लैन हितवासा ॥
तही तपत ये तापस लोगू। त्यागि सकल इन्द्रिन के भोगू ॥
यहाँ कल्प तरु कुंज अनूपा। साधन अनिल वृत्ति अनुरूपा ॥
निज वृति काजें नीर सुहाए। हेम कमल रज मिल पियराये ॥
बैठन काजें ध्यान को, मणिशिल बिछी अनेक ॥
यहाँ अप्सरन निकटहू, निबहित सजम टेक ॥१७६॥

मातलि—सत्पुरुषो की अभिलाषा सदा ऊँची हो रहती है। (इधर-उधर फिरकर) कहो वृद्ध शाकल्य, इस समय महात्मा कश्यप क्या करते हैं? क्या कहा, दक्ष की बेटी ने जो पतिव्रत धर्म पूछा था, वह उनको और ऋषि-पत्नियों को सुना रहे हैं।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) मुनियों के पास अवसर देखकर जाना चाहिये।

मातलि—(राजा की ओर देखकर) आप इस अशोक वृक्ष की छाया मे विश्राम करिये। तब तक मैं आपके आने का सन्देशा अवसर देखकर इन्द्र के पिता से कह आऊँ।

दुष्यन्त—जैसा तुम्हे भावे। (बैठता है)

मातलि—मैं इस काम को करके अभी आता हूँ।

दुष्यन्त—(शगुन देखकर)—

सिद्ध मनोरथ होन की, मोहि कछू नहीं आस।
फिर तू फरकति बाँह क्यों, वृथा करन उपहास॥
सन्मुख सुख आयो कहूँ, नीचो गयो जु होइ।
पलटि दुःख बनि जात है, निश्चय जानो सोइ॥ १७७॥

(नेपथ्य में)—अरे देख! चपलता मत कर, क्या तू अपनी बात नहीं छोड़ेगा?

दुष्यन्त—(कान लगाकर) हैं! इस स्थान में चपलता का क्या काम, यह ताड़ना किसको हो रही है। (जिधर बोल सुनाई दिया उधर देखकर और आश्चर्य करके) अहा! यह किसका पराक्रमी बालक है जिसे दो तपस्विनी रोक रही हैं।

आधो पीयो मात थन, जा शावक मृगराज।
ताहि घसीटत केश गहि, यह शिशु खेलन काज॥ १७८॥

[एक बालक सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ लाता है और दो तपस्विनी उसे रोकती हुई आती हैं]

बालक—अरे सिंह! तू अपना मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

पहिली तपस्विनी—हे अन्याई, तू इन पशुओं को क्यों सताता है? हम तो इन्हें बालबच्चों के समान रखती हैं। हाय, तेरा साहस बढ़ता ही जाता है। तेरा नाम ऋषियों ने सर्वदमन रक्खा है सो ठीक है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अहा! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता जाता है जैसा पुत्र में होता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू बच्चे को छोड़ न देगा तो यह सिंहनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—(मुसकाकर) ठीक है सिंहनी का मुझे ऐसा डर है! (मुँह चढ़ाता है)

दुष्यन्त—दीसत बालक मोहि यह, तेजस्वी बलबीर।
काठ काज जैसे अगिन, ठाढ़ो है मतिधीर॥ १७९॥

पहिली तपस्विनी—हे प्यारे बालक ! तू सिंह के बच्चे को छोड़ दे, मैं तुझे मोर खिलौना दूंगी।

बालक—कहां है, ला दे दे। (हाथ पसारता है)

दुष्यन्त—इसके तो लक्षण भी चक्रवर्तियों के से हैं, क्योंकि—

मांगि खिलौना लेन को, जबहि पसार्यो हाथ।
जाल गुथी सी आंगुरी, सब दीखी एक साथ॥
मनहु खिलायो कमल कछु, प्रात अरुण ने आय।
नेक न पखुरिन बीच में, अन्तर परत लखाय॥ १८०॥

दूसरी तपस्विनी—हे सुव्रता ! यह बातों से न मानेगा, जा मेरी कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार मारकण्डेय के खेलने का रक्खा है, उसे ले आ।

पहली तपस्विनी—मैं अभी लिए आती हूं। (जाती है)

बालक—तब तक मैं इसी सिंह के बच्चे से खेलूंगा।

[यह कह कर तपस्विनी की ओर हँसता है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसके खिलाने को मेरा जी कैसा ललचाता है।

हांसी बिन हेत मांहि दीखती बतीसी कछु।
निकसी मनो है पांति ओछी कलिकान की॥
बोलन चहत बाप निकसि जाती टूटी सी।
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की॥
गोद तें न प्यारी और भाव मन कोई ठांव।
दौरि-दौरि बैठें छोडि भूमि अंगनान की॥
धन्य-धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात।
कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुवनान की॥ १८१॥

दूसरी तपस्विनी—यह मेरी बात तो कान नहीं धरता। (इधर-उधर देखकर) कोई ऋषिकुमार यहां है? (दुष्यन्त को देखकर) हे महात्मा ! तुम्हीं आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंह के बच्चे को छुड़ाओ। यह इसे खेल में ऐसा पकड़ रहा है कि छुड़ाना कठिन है।

दुष्यन्त—(लड़के के पास जाकर और हँसकर)

आश्रम वासिन की यह रीती। पशु पालन मे राखत प्रीती॥
सो ऋषि सुत दूषित तैं कीनी। उल्टी वृत्ति यहाँ क्या लीनी॥
बरत जन्म हो तैं या बाजा। जो नहिं मोहत मुनिन समाजा॥
तैं यह किया तपोवन ऐसो। कृष्ण सर्प शिशु चन्दन जैसो॥ १८२॥

दूसरी तपस्विनी—हे बड़भागी! यह ऋषिकुमार नहीं है।

दुष्यन्त—सत्य है यह तो इसके आकार सदृश काम ही कह देते हैं परन्तु मैंने तपोवन मे इसको बालक देख ऋषि-पुत्र जाना था। (जैसी मन मे लालसा है लड़के का हाथ अपने हाथ मे लेकर आप ही आप) अहा!

ना जानूँ का वंश को अंकुर यहै कुमार।
मो तन एतो सुख भयो नाहिं छुवत एक बार॥
या बड़भागी के हिये कितो न होइ उमङ्ग।
उपज्यो जाके अङ्ग तें ऐसो याको अङ्ग॥ १८३॥

तपस्विनी—(दोनो की ओर देखकर) बड़ अचम्भे की बात है।

दुष्यन्त—तुमको क्यों अचम्भा हुआ?

तपस्विनी—इसलिए हुआ कि इस बालक की और तुम्हारी उनहारी बहुत मिलती है और तुम्हारे वाले बिना भी इसने तुम्हारा कहना मान लिया।

दुष्यन्त—(लड़के को खिलाता हुआ) हे तपस्विनी! जो यह ऋषिपुत्र नहीं तो किस वंश का है?

तपस्विनी—यह पुरुवंशी है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह हमारे वंश का कैसे हुआ और इस भगवती ने मेरी उनहार का इसे क्या कहा? हाँ, पुरुवंशियो में यह रीति तो निश्चय है कि—

छितिपालन के कारने पहले नैत निवास।
जाय भवन एमेन में रहैं सब भोग विलास॥
पाछें बन मे बसत हैं, ले तरवर की छाँहि।
इन्द्री जीतन को नियम धरि एकहि मन माँहि॥ १८४॥

(प्रगट)—परन्तु यह स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मनुष्य अपने बल से आ सके।

दूसरी तपस्विनी—तुम सच कहते हो इसकी माँ मेनका नाम अप्सरा

की बेटी है, उसी के प्रताप से इसका जन्म देव पितर के इस तपोवन मे हुआ है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह दूसरी बात आशा उपजाने वाली हुई। (प्रगट) भला इसकी मा किस राजर्षि की पत्नी है ?

दूसरी तपस्विनी—जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को विना अपराध छोड दिया उसका नाम कौन लेगा ?

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कथा तो मुझी पर लगती है। अब इस बालक की माँ का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु पराई स्त्री का वृतान्त पूछना अन्याय है।

[तपस्विनी मिट्टी का मोर लिए हुए आती है]

तपस्विनी—हे सर्वदमन ! यह शकुन्त लावण्य देख।

बालक—(बड चाव से देखकर) कहां है शकुन्तला मेरी मा

दोनो तपस्विनी—यह मा के प्यार नाम से धोखा खा गया।

दूसरी तपस्विनी—सुना मैंने यह कहा था कि इस मिट्टी के सुन्दर मोर को देख।

दुष्यन्त—(आप ही आप) क्या इसकी माँ का नाम शकुन्तला है ? हुआ करो एक नाम के अनेक मनुष्य होते हैं। कहीं मुझे दुख देने को नाम का उच्चारण ही मृगतृष्णा न बनाया हो।

बालक—मुझे मोर बहुत अच्छा लगता है। (खिलौने लेता है)

पहिली तपस्विनी—(घबराकर) हाय हाय ! इसका बाहु की रक्षा का धागा कहाँ गया ?

दुष्यन्त—घबडाओ मत ! जब यह नाहर के बच्चे से खेल रहा था इसके हाथ से गडा गिर गया था यह पडा है। (गडा उठाने को झुकता है)

दोनो तपस्विनी—मत उठाओ मत उठाओ। हाय इसने क्या उठा लिया ?

[दोनों अचम्भे से छाती पर हाथ रखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं]

दुष्यन्त—तुमने मुझे इसके उठाने से किस लिए वरजा ?

दूसरी तपस्विनी—सुनो महाराज ! इस गडे का नाम अपराजित है। जिस समय इस बालक का जातकर्म हुआ, महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने

यह दिया था। इसमे यह गुन है कि कदाचित धरती पर गिर पड़े तो इस बालक को और इसके माँ बाप को छोड और कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और जो कोई उठा ले तो।

पहिली तपस्विनी—तो यह तुरन्त सांप बनकर उसे डसता है।

दुष्यन्त—तुमने ऐसा होते कभी देखा है ?

दोनो तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप ही आप)—अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ। मैं क्यो आनन्द न मनाऊँ ? (लड़के को गोद मे लेता है)

दूसरी तपस्विनी—आओ सुवृता, यह सुख का समाचार चलकर शकुन्तला को सुनावें। यह बहुत दिन से वियोग के कठिन नेम कर रही है। (दोनो जाती हैं)

बालक—मुझे छोडो, मैं अपनी माँ के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र ! तू मेरे सङ्ग चलकर अपनी माँ को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तो दुष्यन्त है तुम नहीं हो।

दुष्यन्त—(मुसकाकर) यह विवाद भी मुझे प्रतीति कराता है।

[एक बेनी धारन किए शकुन्तला आती है]

शकुन्तला—(आप ही आप) मैं सुन तो चुकी हूँ कि सर्वदमन के गण्डे न अवसर पाकर भी रूप न पलटा, परन्तु अपने भाग्य का मुझे कुछ भरोसा नहीं। हाँ, इतनी आशा है कि कदाचित सानुमती का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देखकर) अहा ! यही प्यारी शकुन्तला है।

नियम करत बीत दिवस दूबर अङ्ग लखात।
सीस एक बनी धरे बसन धूमरे गात॥
दीरघ बिरहाव्रत सती, मा पति सुख बिसराय।
मो निरदय के कारने, मधन सील सुभाय॥ १८५॥

शकुन्तला—(पछतावे से रूप बिगड़े राजा को देखकर) यह तो मेरा पति-सा नहीं है, और जो नहीं है तो कौन है, जिसने रक्षा बन्धन पहने हुए मेरे बालक को अङ्ग लगा के दूषित किया ?

बालक—(दौड़ता हुआ माता के पास जाकर) माता ! यह पुरुष कौन है, जिसने पुत्र कह कर मुझे गोद में लिया ?

दुष्यन्त—हे प्यारी ! मैंने तेरे साथ निठुराई तो बहुत की, परन्तु परिणाम अच्छा हुआ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि तैंने मुझे पहचान लिया।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन तू धीरज धर। अब मुझे भरोसा हुआ कि विधाता ने ईर्षा छोड़ मुझ पर दया की है। (प्रगट) यह तो निश्चय मेरा ही पति है।

दुष्यन्त—हे प्यारी !

सुधि आई सब भ्रम मिट्यो, सफल भये मम काज।
धन्य भागि सुमुखी लखूँ, सनमुख ठाडी आज॥
अन्धकार मिटि ग्रहण को, दूर होत जब सोग।
तुरत चन्द्र सों रोहिनी, करति आय संयोग॥ १८६॥

शकुन्तला—महाराज की—

[इतना कहकर गद्‌गद् वाणी हो आंसू गिराती है]

दुष्यन्त—यदपि शब्द जब कण्ठ में, आंसुन रोक्यो आय।
पै न कछु शका रही, मैं लीनो जय पाय॥
दरसन तो मुख को भयो, सुमुखी मोहिं रसाल।
बिना लखोटा हू लगे, अधर ओठ अति लाल॥ १८७॥

बालक—हे मां ! यह पुरुष कौन है ?

शकुन्तला—बेटा ! अपने भाग्य से पूछ।

दुष्यन्त—(शकुन्तला के पैरों में गिरता है)

मन तें प्यारी दूरि अब, डारि बिलग अपमान।
या छिन मेरे हिय रह्यो, प्रबल कछू अज्ञान॥
तामस बस गति होति यह, बहुतन की सुखवार।
फेंकत जिमि अहि जान के, अन्ध दियो गलहार॥ १८८॥

शकुन्तला—उठो प्राणपति, उठो। उन दिनों मेरे पूर्व जन्म के पाप उदय हुये थे, जिन्होंने सुकर्मों का फल मेट मेरे दयावान पति को मुझसे निस्सन्देह दूर कर दिया (राजा उठता है) अब कहो कि मुझ दुखिया की सुध तुम्हें कैसे आई ?

दुष्यन्त—जब सन्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब कहूँगा।

देखी अनदेखी करी, मैं वा दिन भ्रम पाय।
तेरी आँसू बूँद जो, परी अधर पै आय॥
सो पछितायो आज मैं, पदमिनि लेहूँ मिटाय।
या आसू को पोंछि जो, रह्यो पलक तो छाय॥ १८६॥

[आँसू पोंछता है]

शकुन्तला—(राजा की अँगुली में अँगूठी देखकर) क्या यह वही मुदरी है ?

दुष्यन्त—हाँ, इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि जब मैं अपने स्वामी को प्रतीति कराती थी, यह दुलभ हो गई।

दुष्यन्त—हे प्यारी ! अब तू इसे फिर पहन। जैसे ऋतु आने पर लता फिर फूल धारण करती है।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा, तुम्हीं पहने रहो।

[मातलि आता है]

मातलि—महाराज ! धन्य है यह दिन कि आपने फिर धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा।

दुष्यन्त—हाँ, आज मेरा मनोरथ सफल हुआ। हे मातलि ! तुम यह तो कहो कि इस वृत्तान्त को इन्द्र ने जान लिया था कि नहीं।

मातलि—(हँसकर) देवताओं से क्या छुपता है ? अब आओ, महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे।

दुष्यन्त—प्यारी, तू पुत्र का हाथ थाम ले। मैं तुझे आगे लेकर महात्मा का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—तुम्हारे संग बड़ों के सन्मुख जाते मुझे सकुच लगती है।

दुष्यन्त—ऐसे शुभ अवसर पर ऐसा ही करना उचित है, आओ। (सब घूमते हैं)

[आसन पर बैठे हुए कश्यप और अदिति दीखते हैं]

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता!

है यह तेरे पुत्र को, रन अगवानी भूप।
नाम जासु दुष्यन्त है, कीरति जासु अनूप॥
जाके धनुष प्रताप तें लहि कै अब विश्राम।
शोभा ही को रहि गयो इन्द्रवज्र अभिराम॥ १६०॥

अदिति—बड़ाई तो इसके रूप ही से दीखती है।

मातलि—(दुष्यन्त से) हे राजा! ये देवताओं के माता पिता आप की ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं जैसे कोई अपने पुत्र को देखता है। आओ इनके निकट चलो।

दुष्यन्त—हे मातलि! या कश्यप और अदिति यही हैं?

इनहिं कहत को ऋषि मुनि धावें। द्वादस रवि के जनक बतावें।
हैं मरीचि सुत दक्ष सुता के। नाती अरु नातिन ब्रह्मा के॥
सुर नायक इनहीं ने जाया। जो तिरलोकीनाथ कहायो।
विधि ते परे पुरुष जो कोऊ। इनसों कोख अवतरयो सोऊ॥ १६१॥

मातलि—हां ये ही हैं।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) हे महात्माओ। तुम्हारे पुत्र का आज्ञाकारी दुष्यन्त प्रणाम करता है।

कश्यप—बेटा तू चिरञ्जीव होकर पृथ्वी का पालन करे।

अदिति—बेटा तू रन में अजित हो।

शकुन्तला—मैं भी आपके चरणों में बालक समेत वंदना करती हूँ।

कश्यप—हे पुत्री!

भरता तेरो इन्द्र सम सुत जयन्त उपमान।
और कहा वर दहुँ तुहि तू हो सची समान॥ १६२॥

अदिति—हे पुत्री! तू सदा पति की प्यारी हो और यह बालक दीर्घायु होकर दोनों कुल का दीपक हो। आओ बैठो।

[सब प्रजापति के सामने बैठते हैं]

कश्यप—(एक एक की ओर देखकर दुष्यन्त से)

नारि सती सुत शुद्ध पुनि तुम राजन सिर मौर।
श्रद्धा विधि अरु वित्त सम मिले धन्य इक ठौर॥ १६३॥

दुष्यन्त—हे महर्षि ! आपका अनुग्रह बड़ा अपूर्व है।

फूल लगे तब होत फल, घन आवे तब मेह।
कारण कारज गति यही, तामें नहिं सन्देह॥
पै अद्भुत तुम्हरी कृपा, देखी मैंने आज।
वर तुमने पाछे दियो, पहल पूज्यो काज॥ १६४॥

मातलि—प्रजापतियों की कृपा का यही प्रभाव है।

दुष्यन्त—हे भगवन् ! आपकी इस दासी का विवाह मेरे साथ गान्धर्व रीति से हुआ था। फिर कुछ काल बीत मायके के लोग इसे मेरे पास लाए। उस समय मेरी सुध भूली कि इसे पहचान न सका और इसका त्याग करके मैं आपके सगोत्री कण्व का अपराधी बना। पीछे अँगूठी देखकर मुझे सुध आई कि कण्व की बेटी से मेरा ब्याह हुआ था। यह वृतान्त अचरज सा दीखता है।

लखि सनमुख हाथी जिमि कोई। कहे कि यह हाथी नहिं होई॥
निकसि जाय तब शङ्का लावे। हाँ कबहू कबहू ना गावे॥
खोज देखि फिर हाथी जाने। निश्चय भूप आपनी माने॥
याही विधि गति मो मन केरी। उल्टी पल्टि लीनी बहु फेरी॥ १६५॥

कश्यप—हे बेटा ! जो कुछ अपराध हुआ उसका सोच अपने मन से दूर कर, क्योंकि तुझे उस समय भ्रम ने घेर लिया था, अब सुन।

दुष्यन्त—मैं एकाग्र चित्त होकर सुनता हूँ, आप कहें।

कश्यप—जब अप्सरा तीर्थ पर जाकर मेनका ने शकुन्तला को व्याकुल देखा तो उसे लेकर अदिति के पास आई। मैंने उसी समय ध्यान-शक्ति से जान लिया कि तैंने अपनी पतिव्रता को केवल दुर्वासा के शापवश छोड़ा है और इस शाप की अवधि मुदरी के दरसन तक रहेगी।

दुष्यन्त—(आप ही आप) तो मैं धर्मपत्नी परित्याग के अपवाद से बच गया।

शकुन्तला—(आप ही आप) धन्य है कि स्वामी ने मुझे जानबूझ कर नहीं त्यागा, परन्तु मुझे सुध नहीं है कि शाप कब हुआ अथवा उस समय विरह के सोच में बेसुध हूँगी, क्योंकि मेरी सखियों ने मुझे जता दिया था कि अपने भरता को अँगूठी दिखा देना।

कश्यप—हे पुत्री ! अब तू कृतार्थ हुई । अपने पति का अपराध मत समझ ।

निठुर भयो पति भूलि सुधि, तू त्यागी वश शाप ।
दई तोहिं अब भ्रम मिटै, सब विधि प्रभुता आप ॥
छाया परति न मुकुर मे, मैल कछू जो होइ ।
पै दीखत है सहज ही, जब डार्यो वह धोइ ॥ १९६ ॥

दुष्यन्त—महात्मा ! यह मेरे वश की प्रतिष्ठा है । (बालक का हाथ पकड़ता है)

कश्यप—यह भी जान लो कि यह बालक चक्रवर्ती होगा ।

सुखगामी रथ पै चढ्यो, उतरि महोदधि पार ।
जीतैगो यह बीर नर, तीन दीप ग्ररु चार ॥
किये पशू सब वस यहाँ, सर्वदमन भो नाम ।
प्रजा भरण करि होयगो, फेरि भरत अभिराम ॥ १९७ ॥

दुष्यन्त—जिसके आपने संस्कार किये हैं, उससे हमको किस-किस की बड़ाई की आशा नहीं !

अदिति—हे भगवन् ! शकुन्तला के मनोरथ सिद्ध हुए, इसलिये इसके पिता को भी यह वृत्तान्त सुनाना चाहिए, और इसकी माता मेनका तो मेरे ही पास है वह सब जानती है ।

शकुन्तला—(आप ही आप) इस भगवती ने तो मेरे ही मन की कही ।

कश्यप—अपने तप के बल से कण्व मुनि सब वृत्तान्त जानते होंगे ।

दुष्यन्त—इसी से मुनि ने मुझ पर क्रोध न किया ।

कश्यप—तो भी हमें उचित है कि कण्व को यह मङ्गल समाचार सुनावें । कोई है रे यहाँ ?

[एक चेला आता है]

चेला—महात्मा ! क्या आज्ञा है ?

कश्यप—हे गालव ! तू अभी आकाश मार्ग होकर कण्व के पास जा और मेरी ओर से यह मङ्गल समाचार सुना दे कि दुर्वासा का शाप मिट जाने पर आज दुष्यन्त ने पुत्रवती शकुन्तला पहचान कर अङ्गीकार कर ली ।

चेला—जो आज्ञा । (जाता है)

कश्यप—अब पुत्र, तुम भी स्त्री बालक समेत इन्द्र के रथ पर चढ़ आनन्द से अपनी राजधानी को सिधारो।

दुष्यन्त—जो आज्ञा।

कश्यप—और सुन लो—

इन्द्र मेह मुकतौ बरसावै। यात तो परजा सुख पावै॥
करि करि यज्ञ तुहू बहुतेरे। तुष्ट करे मर देवन केरे॥
या विधि साधि परस्पर काज। सो जुग करत रहो तुम राज॥
दुहू लोक वासी सुख पावें। तुम दोहुनि के मिल जस गावें॥१६८

दुष्यन्त—हे महात्मा? जहां तक हो सकेगा, मैं इस सुख के निमित्त सब उपाय करूंगा।

कश्यप—कहो पुत्र! अब तुम्हें और क्या आशीर्वाद दूं!

दुष्यन्त—जो आपने कृपा की, इससे अधिक आशीर्वाद क्या होगा? और कदाचित आप पूछते ही हैं तो भरत का यह वचन पूरा होने दीजिये—

प्रजा काजें राजा नित सुकृत पै उद्यत रहैं।
बढ़ै वेदज्ञाना हित सहित पूजैं सरसुती॥
उमा स्वामी शम्भू जगतपति नीललोहित प्रभू।
छुटावें मोहू को विपति अति आवागमन सों॥१६६॥

कश्यप—तथास्तु।

[सब बाहर जाते हैं]

॥ समाप्तम ॥

शकुन्तला-नाटक के काव्यांश

[नाटक में प्रयुक्त सभी छन्दों की विशेषार्थ-निरूपिणी व्याख्या]

प्रस्तुत छप्पय की रचना नाटक के मगलाचरण के रूप मे की गई है। अष्टमूर्ति भगवान् शिव की जो मूर्ति ब्रह्मा जी की सर्वप्रथम सृष्टि है (अर्थात् जल), जो विधि-विधान पूर्वक हवन की हुई घृत आदि की आहुति को देवताओं तक पहुचाती है (अर्थात् अग्नि), जो हवन करने वाली है (अर्थात् यजमान), जो काल का बोध कराती हैं (अर्थात् सूर्य व चन्द्र), जो शब्द-रूपी गुण वाली है और विश्व मे सभी ओर व्याप्त है (अर्थात् आकाश), जो अग-जग के सम्पूर्ण बीजो, प्राणियो को उत्पन्न करने वाली है (अर्थात् पृथ्वी) और जिससे प्राणी-मात्र अनुप्राणित या जीवित होते हैं (अर्थात् वायु), में आठ शिव जी की विभिन्न मूर्तियाँ हैं। इन आठ स्वरूपो मे नित्य-प्रति निवास करने वाले भगवान् शिव आप सब की सहायता करें।

इस छप्पय का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए ये अर्थात् जल रूपी शिव (भव), श्रौत-स्मार्त आदि विधियों से अग्नि मे आहुति दी गई सामग्रियो को देवताओ तक ले जाने वाले अग्नि रूपी शिव (रौद्र) यजमान के रूप मे दिखाई देने वाले यजमान-रूपी शिव (पशुपति), काल की सूचना देने वाले सूर्य-रूपी शिव (ईशान) और चन्द्र-रूपी शिव (महादेव), जो सर्वव्यापक हैं एव शब्द जिनका गुण है ऐसे आकाश-रूपी शिव (भीम), सम्पूर्ण जड-जगममय ससार को उत्पन्न करने वाले मूल प्रकृति अर्थात् पृथ्वी रूपी शिव (शव) और जीव के आधार स्वरूप वायु-रूपी शिव (उग्र) को मैं वन्दना करता हू। इन आठ स्वरूपों मे नित्य निवास करने वाले भगवान् शिव आप सब की रक्षा करें।

विशेष—नाटक के मगलाचरण म प्राय उसकी कथावस्तु की ओर भी अप्रत्यक्ष सकेत रहता है। कवि विशाखदत्त का 'मुद्रा राक्षस' नाटक राज-नीति-प्रधान है। इसी कारण उसके मगलाचरण म शिव को राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है। उसी के समान वे पार्वती के प्रश्नो का उत्तर छल पूर्वक देते हैं, किन्तु, प्रस्तुत 'शकुन्तला' नाटक के मगलाचरण में कथा-

वस्तु अर्थात् प्रेम-वर्णन का उल्लेख नहीं है। इसमें तो भगवान् शिव की शुद्ध भक्ति किए जाने के कारण महाकवि कालिदास का शैव-भक्त रूप ही प्रधान रहा है।

(२) इस दोहे में नाट्याभिनय की कठिनता की ओर संकेत किया गया है—किसी भी नाटक का अभिनय उसी दशा में सफल माना जाता है जब उसे देखकर दर्शक वृन्द मुग्ध हो जाए। (नाटक की सफल समाप्ति से पूर्व) अभिनय-कला में पर्याप्त निपुण पात्र भी मन में शंकित रहते हैं कि उन्हें अन्त तक सफलता मिलेगी या नहीं। (इस दोहे का भावार्थ यह है कि नाटकीय पात्रों की वाह्य साज सज्जा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। वस्तुत अभिनय की सफलता तो नाटक की समाप्ति पर दर्शकों के आनन्द से ही जानी जा सकती है।)

(३) मूल नाटक का प्रारम्भ होने से पूर्व सूत्रधार नटी से कोई गीत सुनाने का आग्रह करते हुए ग्रीष्म ऋतु की प्रशंसा में कहता है कि ग्रीष्म ऋतु के दिन अत्यन्त सुखद और अच्छे होते हैं। गर्मी के दिनों में सन्ध्या का समय तो मनुष्यों के जीवन में आनन्द का अभूतपूर्व सचार कर देता है। इस ऋतु में नदी, तालाब अथवा छोटे छोटे जल-कुण्डों में जल-क्रीडा करने तथा तैरने से शरीर को अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जब वृक्षों की सघन छाया में बैठे हुए श्रान्त पथिकों के शरीर का वन प्रदेश में प्रवाहित होने वाली शीतल पवन स्पर्श करती है तब उन्हें बारम्बार निद्रा आने लगती है। इस समय नींद शान्त नहीं रह पाती अर्थात् वह बार-बार मनुष्यों के पास आती है। सन्ध्या के समय पाटल नामक पुष्प की सुगन्ध से युक्त तीन प्रकार की—शीतल मन्द एवं सुगन्धित पवन प्रवाहित होकर शरीर को शीतलता प्रदान करती है। उसका संसर्ग शरीर को सुखद प्रतीत होता है।

(४) सूत्रधार के मुख से ग्रीष्म की प्रशंसा सुनकर नटी भी इस ऋतु से सम्बद्ध एक गीत गाती है—(ग्रीष्म ऋतु में सन्ध्या के समय) भ्रमर-युगल कितनी मादकता एवं तल्लीनता में परस्पर चुम्बन द्वारा प्रगाढ़ प्रेम का परिचय दे रहा है! ये भ्रमर ऋतु की मादकता से अभिभूत होकर नागकेसर पुष्प का बारम्बार आलिंगन कर रहे हैं—प्रसन्न होकर उसके चारों ओर उड़ रहे हैं। वनवासिनी नवयुवतियाँ सिरीष नामक पुष्प के आभूषण बना

कर उन्हें कानों मे धारण किए हुए हैं। उन फूलो के गहनो को धारण करने से उनका सौन्दर्य बढ गया है जिससे वे दर्शकों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। वस्तुत इस ग्रीष्म ऋतु मे चारो ओर सौंदर्य का प्रसार है। यह अत्यन्त सरस ऋतु है।

(५) नटी के गीत की प्रशसा करते हुए सूत्रधार अपनी ओर आते हुए हरिण की ओर सकेत करके कहता है कि जिस प्रकार यह हरिण राजा दुष्यन्त को यहाँ तक ले आया है उसी प्रकार तेरा मधुर एव सरस गीत भी मेरे हृदय को बलपूर्वक अपने साथ ले गया है।

विशेष—सस्कृत नाटको की यह पद्धति रही है कि मूल नाटक का प्रारम्भ होने से पूर्व सूत्रधार अथवा नटी सकेत द्वारा उस नाटक के कथानक की ओर इ गित कर देते हैं। प्रस्तुत दोहे में भी इसी प्रकार का सकेत है।

(६) सारथी ने दुष्यन्त से कहा कि हे राजन्! इस (दौडते हुए) हरिण और हाथ मे धनुष-बाण लेकर (इसके पीछे दौडते हुए) तुम्हे देखकर मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वय शिव जी मृग का पीछा कर रहे हैं।

(७) दुष्यन्त ने सारथी से कहा कि देखो, अपने पीछे आते हुए रथ को देखने के लिए यह हरिण बार-बार अपनी सु दर गर्दन को मोड कर पीछे देखता है। कभी-कभी यह इस आशका से भयभीत हो जाता है कि कही मेरे (दुष्यन्त) द्वारा छोडा गया बाण इसके शरीर म न लग जाए। इस भय से यह अपने शरीर के पिछले भाग को आगे की ओर समेट कर सिकुडने का प्रयास करता है। भागते भागते थक जाने के कारण यह अपने खुले हुए मुख से आधी चबाई हुई घास को मार्ग म गिराता हुआ जा रहा है। (हे सारथि, तनिक इसकी गति को भी देखो!) तुमने अभी इसे ऊँची छलागें लगाते हुए देखा है। यह इतने आवेग से दौड रहा है कि छलाँग लगाने के कारण यह आकाश मे भागता हुआ दिखाई देता है। पृथ्वी पर इसके पैर कभी-कभी पडते हैं।

छद चौपाई, अलकार स्वभावोक्ति।

(८) सारथी ने कहा कि हे राजन्! जब मैंने इन घोडा की लगाम ढीली की तब इन्होंने (तेजी से चलने का सकेत समझकर) अपने शरीर के आगे के हिस्से को तनिक ऊँचा उठा लिया। आगे बढते समय इन्होंने अपने कानों को चौकन्ना कर लिया। ये अनायास ही इतने आवेग से दौडे कि इनके सिर

पर लगी हुई चमर शिखा (कलगी) बिल्कुल भी नहीं हिली। (यह अनुभूत तथ्य है कि जब कोई चीज तेजी से दौडती है तो वह स्थिर प्राय दिखाई पडती है।) हे राजा, तुम इन्हें दौडते हुए देखो। अपने पैरों से उडाई हुई धूलि को ये पीछे छोड जाते हैं अर्थात् इनके खुरों से उडी हुई धूलि भी इनसे आगे नही बढ पाती। (अपने सामने तीव्रता से दौडने वाले मृग को देख कर) ये घोडे अब इतनी शीघ्रता से उस हरिण की ओर झपट रहे हैं मानो ये उसके आवेग को और अधिक सहन नही करेंगे। अर्थात् शीघ्र ही उससे आगे बढ जाएँगे।

छन्द चौपाई, अलकार: स्वभावोक्ति।

(६) सारथी द्वारा घोडो के वेग की प्रशसा किए जानेपर राजा दुष्यन्त भी उनकी सराहना करता है—घोडो द्वारा चलाये जाने वाले इस रथ के तेज दौडने के कारण निकट एव दूर की वस्तुओ म कोई अन्तर नही रहा। पहले दूरी पर स्थित जो वस्तु अत्यन्त क्षीणकाय दिखाई पड रही थी, वही, रथ म निकट पहुच जान के कारण, क्षण भर म ही बडे आकार की बन गई है। जो वस्तुएँ पहले समीप से देखने पर पृथक्-पृथक् दीख रही थी, वे अब रथ के आगे बढ जाने के कारण दूर हो गई हैं अत ऐसी प्रतीत होती हैं मानो एक दूसरे से जुडी हुई हो। इसी प्रकार जो वस्तुएँ समीप स देखने पर टेढी दिखाई देती थी वही अब रथ से बहुत दूर हो जाने के कारण बिल्कुल सीधी दिखाईदे रही हैं।

छन्द चौपाई, अलकार स्वभावोक्ति।

(१०-११) हे राजा, तुम जिस बाण द्वारा इस हरिण का शिकार करना चाहते हो वह अत्यन्त कठोर है। यह बाण इस मृग के कोमल शरीर पर आघात करने के योग्य नहीं है—इससे मृग को कष्ट होगा। जिस प्रकार फूलो के ढेर पर अग्नि रख कर उसे नष्ट करना उचित नही है उसी प्रकार तुम्हारा यह कृत्य भी निन्द्य है। तुम तनिक विचार तो करो कि एक ओर तो असहाय हरिणों के कोमल प्राण हैं और दूसरी ओर तुम वज्र के समान कठोर एव तीक्ष्ण शरो का सधान करके इन पर आक्रमण करना चाहते हो! (अर्थात् तुम्हारा यह कर्म सर्वथा अनुचित है)। अत इस मनोविषय का भली-भाति विचार करके तुम अपने धनुष पर चढाये हुए बाण को उतार लो। वस्तुत राजा

(अथवा किसी क्षत्रिय) के हाथ मे सुशोभित धनुप-बाण निर्दोष प्राणियो को मारने के लिए नही होता वरन् उनके द्वारा वह दु खी व्यक्तियो के दु ख को दूर करता है। (इसलिए तुम भी निर्दोष मृग को न मारो)।

विशेष—इन दोहो मे क्षत्रिय-धर्म की ओर सकेत किया गया है।

(१२) तपस्वी के मना करने पर जब राजा दुष्यन्त ने हरिण पर बाण नहीं चलाया तब तपस्वी प्रसन्न होकर कहता है—हे राजा, तुम्हारे लिए यह उचित ही था कि तुम हरिण को न मारो। तुमने पुरु वश मे जन्म लिया है। (अत मेरे कहने से निर्दोष हरिण को न मार कर तुमने अपने वश की मर्यादा की रक्षा की है)। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हू कि तुम्हारे घर शीघ्र ही गुणी एव चक्रवर्ती पुत्र का जन्म होगा।

विशेष—इस दोहे मे नाटककार ने आगे की कथा की ओर सकेत किया है। आगे चल कर शकुन्तला के गर्भवती होने पर तपस्वी का आशीर्वाद फलीभूत होता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार से कथा सकेत करने को 'बीज' कहा जाता है।

(१३) इन दोहो मे तपस्वी राजा दुष्यन्त के पराक्रम की प्रशसा करते हुए कहता है—(हे राजा, तुम आश्रम मे चलो।) वहाँ तुम तपस्वियो के अनुष्ठानो को निर्विघ्न सम्पन्न होते हुए देखोगे। समय तुम स्वय यह जान लोगे कि तुम्हारी धनुप से चिह्नित भुजाए प्रजा की कितनी अधिक रक्षा करती हैं। अर्थात् निर्विघ्न यज्ञो से तुम्हारे पराक्रम का प्रत्यक्ष ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

(१४) राजा दुष्यन्त सारथी से कहते हैं—यहाँ वृक्षो के नीचे (यज्ञ के उपरान्त अवशिष्ट) अन्न गिरा हुआ है। कही-कही वृक्ष पर रहने वाले तोतो के लिये तपस्वियो द्वारा रखे हुए अन्न के कुछ दाने भी बिखरे पडे हैं। कहीं चिकने शिलाखण्ड रखे हुए दिखाई दे रहे हैं जिन पर मुनिगण इ गुदी नामक फल को पीसते हैं। यहाँ रहने वाले हरिण मनुष्यो से डरते नही, वरन् उनसे हिल मिल गये हैं। इसी कारण (वे हमारे रथ की) ध्वनि सुनकर चौंकते हुए इधर-उधर नही भागते। मुनिगण स्नान करके आश्रम की ओर लौटे हैं, अत गीले कपडो से टपकने वाली जल की बूंदो के कारण नदी-तट से आश्रम

तक ये सम्पूर्ण मार्ग में एक रेखा सी बन गई है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि अब हम आश्रम के समीप आ गए हैं।)

विशेष—इन चौपाइयों में वर्णनात्मक शैली को प्रयुक्त किया गया है।

(१५) दुष्यन्त ने पुनः कहा कि देखो नदी के तट के जल को पवन हिला रही है। जल लहरों का स्पर्श करते रहने के कारण नदी तट के वृक्षों की जड़ों पर से मिट्टी हट गई है और वे स्वच्छ एवं उज्ज्वल हो गई हैं। आश्रम की यज्ञाग्नि का धुआं वृक्षों के कोमल पत्रों का स्पर्श करता है, अतः वे धुंधले हो गए हैं। आश्रम के सामने वाली भूमि में अब दाभ नामक कँटीली घास नहीं रही। (दाभ एक नुकीली घास होती है जो नंगे पैर चलने वालों के पैरों में चुभ कर कष्ट पहुँचाती है। यज्ञों में इसकी आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण आश्रम के तपस्वियों ने यज्ञों के लिए वहाँ की आस-पास की दाभ को तोड़ लिया है, जिससे अब वह पथ निष्कंटक हो गया है।) मृग शावक निडर होकर इधर-उधर विचरण कर रहे हैं। मनुष्यों को देखकर या किसी प्रकार की आहट सुनकर भी वे मन में भयभीत नहीं होते। (अतः इस वातावरण से यह स्पष्ट है कि अब हम आश्रम के समीप पहुंच गए हैं।)

छन्द चौपाई।

(१६) आश्रम के निकट पहुँचते ही राजा दुष्यन्त की बाहें फड़कने लगीं। प्रस्तुत दोहा में वह इसी सगुन पर विचार करता है—इस आश्रम में चारों ओर शान्ति है। (तपस्वियों का निवास स्थान होने के कारण इसमें कुकर्मों के लिए कोई स्थान नहीं वरन्) इसमें पुण्य की पूर्ण प्रतिष्ठा है। ऐसे शान्तिदायक स्थान पर पहुँचने पर भी मेरी भुजाएँ फड़कने लगी हैं। मैं समझ नहीं पा रहा कि इस शकुन से यहाँ कौन-सा फल की प्राप्ति होगी? (तात्पर्य यह है कि आश्रम में तो फल की आशा नहीं रखनी चाहिए।) किन्तु यदि मुझे अपने पुण्यों के कारण यहाँ किसी विशेष वस्तु की प्राप्ति हो भी जाय तो मुझे आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वस्तुतः जो होनी है (जो अवश्यम्भावी है) वह निश्चित रूप से होकर रहती है—उसे कोई नहीं रोक सकता।

(१७) दुष्यन्त ने इस स्वगतोक्ति में यह भाव प्रकट किया है कि इस आश्रम में रहने वाली मुनि कन्याओं का शारीरिक सौन्दर्य अप्रतिम है।

राजाओ के अन्त पुरो मे भी (जहाँ राजा सुन्दरी एव गुणी स्त्रियो को चुन-चुन कर अपनी रानी बना कर लाते हैं) इतनी रूपवती स्त्रियाँ मिलनी दुर्लभ हैं। वस्तुत जिस प्रकार वन के उन्मुक्त वातावरण मे विकास प्राप्त करने वाली लताएँ अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के द्वारा नगर के उपवनो की (माली द्वारा काँट-छाँट कर सुन्दर बनाई गई) लताओ के कृत्रिम सौन्दर्य के कारण उनको लज्जित-सा करती रहती हैं उसी प्रकार इन मुनि कन्याओ का सौन्दर्य अभूतपूर्व है।

(१८) शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर राजा दुष्यन्त अपने मन मे सोचता है कि ऐसी कोमलागी से तपोवन की कठिन दिनचर्या कराने वाला इसका पिता बहुत अविवेकी है। दुष्यन्त की यही चिन्ता इन दोहो मे व्यक्त हुई है—शकुन्तला नामक इस मुनि-कन्या का सौन्दय अयत्नज है, अत मन को अनायास ही आकर्षित करने वाला है। इसके सौन्दर्य म कृत्रिमता का तनिक भी आभास नही मिलता। ऐसी सुन्दरी युवती को इसके पिता (कण्व मुनि) तपोवन की कठिन शिक्षा दे रहे हैं। उनका यह विचार मुझे किसी भी दृष्टि से उचित्त प्रतीत नही होता। वस्तुत मुनि द्वारा इस कोमलागी से वन मे तपस्या करवाना उसी प्रकार के अविवेक का परिचायक है जिस प्रकार कमल के कोमल पुष्प की पखुडी की धार से कीकर अथवा शमी (छोकर) नामक वृक्ष की कठोर शाखा को काटने का असफल प्रयास करना।

(१९) प्रस्तुत चौपाइयो मे राजा दुष्यन्त एक ओर तो शकुन्तला के शारीरिक सौन्दय और दूसरी ओर उसके अनुपयुक्त वल्कल वस्त्रो के सम्बन्ध मे सोच रहा है—इस मुनि-कन्या ने अपने दोनो कन्धा पर तपस्वियो के पहनने योग्य गेरुए रग का वस्त्र धारण किया हुआ है। (यहाँ वस्त्र से कवि का अभिप्राय शकुन्तला के द्वारा वक्षस्थल पर धारण की हुई चोली से है)। इस वल्कल वस्त्र को उसने छोटी-छोटी गाँठो स बाँधा हुआ है। इस (ढीली ढाली) चोली मे ढके हुए होने के कारण उसके उरोजो की गोलाकृति दिखाई नही दे रही। यद्यपि इस तरुणी का शरीर यौवनावस्था के आगमन के कारण उभर रहा है, किन्तु वल्कल-वस्त्रो के कारण उसका सौन्दर्य निखर नहीं पाता।

इन गेरुए वर्ण के वस्त्रों में वह ऐसी दिखाई दे रही है जैसे पीले (मुरझाए हुए) पत्तों के बीच में कोई बहुत सुन्दर पुष्प छिप गया हो।

(२०) शकुन्तला के वल्कल-वस्त्रों को अनुपयुक्त बताकर राजा दुष्यन्त दूसरे ही क्षण उनकी प्रशंसा करने लगता है। प्रस्तुत दोहों में वह उदाहरण अलंकार के माध्यम से उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहता है—कमल का पुष्प कीचड़ में जन्म लेने पर भी अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण आकर्षक होता है। (कीचड़ के कारण उसकी सुन्दरता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।) चन्द्रमा के मुख पर कलंक स्वरूप दिखाई देने वाली रेखा भी उसके सौन्दर्य को मिटा नहीं पाती, वरन् उससे चन्द्रमा की कान्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार (मुनियों के पहनने योग्य) वल्कल-वस्त्रों का पहनने पर भी यह युवती रमणीय दिखाई दे रही है। वस्तुतः यदि विधाता ने रूप प्रदान किया हो तो उसे स्वयं को सजाने के लिए आभूषणों की आवश्यकता नहीं होती। (इस पंक्ति का अर्थ यह भी हो सकता है कि विधाता ने जिसे सुन्दरता प्रदान की हुई है उसके लिए कौन-सी वस्तु आभूषण नहीं बन जाती—अर्थात् सुन्दर स्त्री के शरीर पर अच्छी न दिखने वाली वस्तु भी आभूषण के समान मनोहर बन जाती है।)

(२१) प्रियंवदा ने शकुन्तला को लता के समान कहा था। राजा दुष्यन्त भी मन-ही-मन उसका समर्थन करता है—इस शकुन्तला के अधर पल्लव के समान अरुण एवं सुन्दर हैं तथा भुजाएँ लता शाखाओं के समान कोमल हैं। इसके अंगों में व्याप्त होने वाला यौवन (अर्थात् उरोज आदि) लता के पुष्पों के सदृश है। (इस प्रकार शकुन्तला को लता कहना उचित ही है।)

(२२) दुष्यन्त की स्वगतोक्ति है कि मेरा सात्त्विक हृदय शकुन्तला के प्रति अनुरक्त होकर इसका वरण करने की इच्छा कर रहा है। अपने हृदय की यह दशा देखकर अब मुझे इस बात में सन्देह नहीं रहा कि यह क्षत्रिय द्वारा वरण किये जा सकने योग्य है। (क्योंकि क्षत्रिय का हृदय कभी ही किसी की ओर अनुरक्त नहीं होता।) वस्तुतः जब सज्जन के हृदय में किसी बात के औचित्यानौचित्य के प्रति संशय होता है तब उसके अन्तर्मन की प्रवृत्ति द्वारा ही अन्तिम निर्णय किया जा सकता है। (मेरा अन्तर्मन पूर्णतः सात्त्विक एवं पवित्र है। अतः शकुन्तला की ओर मेरा स्वाभाविक आकृष्ट हो जाना अनो-

विरय अथवा कामुकता का सूचक नहीं है। यह अवश्य कोई क्षत्रिय कन्या है।)

(२३) दुष्यन्त ने मन में कहा कि यह भ्रमर उडकर जिस ओर जाता है, उसी ओर से शकुन्तला अपने नयनो को फेर लेती है। (इस प्रकार भ्रमर से भयभीत हुई शकुन्तला की क्रियाओ को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो) कोई मुग्धा नायिका भय का बहाना करके अपनी भौहो को टेढा करना सीख रही है।

(२४) शकुन्तला के मुख के समीप उडने वाले भ्रमर को देखकर राजा दुष्यन्त इस सवैये के माध्यम से अपने भावो को प्रकट करता है—हे भ्रमर तेरे भय से शकुन्तला अपने नेत्रो की पलको को इधर-उधर घुमा रही है, किन्तु तू फिर भी बारम्बार समीप पहुँच कर इस प्रकार मन्द एव मादक गु जार करता है मानो (प्रेमी अपनी प्रेमिका को) कोई रहस्य की बात बता रहा हो। यह बार-बार तुझे अपने हाथो द्वारा मुख से दूर हटाने का प्रयास करती है, किन्तु (तेरी निर्लज्जता इतनी अधिक है कि) तू छलपूर्वक उसके कोमल अधरो का स्पर्श कर लेता है और इस प्रकार अधरो के अमृत रस का पान करके रति-क्रीडा के वास्तविक सुख को प्राप्त करता है। (इधर दूसरी ओर मैं भी तेरे समान शकुन्तला के अधरो का चुम्बन करने के लिए व्याकुल हूँ, किन्तु) मैं शकुन्तला की जाति से अनभिज्ञ होने के कारण उससे प्रेम करने मे सशयाकुल हूँ। भ्रमर होने पर भी तू धन्य है (क्योकि तूने किसी न किसी प्रकार सुन्दरी एव कोमलागी शकुन्तला के अधरो का स्पर्श कर ही लिया। मैं मनुष्य होने पर भी इस दिशा मे कृतकार्य न हो सका।)

विशेष—इन पक्तियो से स्पष्ट है कि शकुन्तला पद्मिनी नायिका है। पद्मिनी नायिका के शरीर मे से कमल के पुष्प की गन्ध आती है। भ्रमर कमल के चारो ओर मडराता रहता है। अत उसका बारम्बार शकुन्तला के निकट आना इस बात को सूचित करता है कि उसे शकुन्तला के शरीर की कमल-गन्ध आकृष्ट कर रही थी।

(२५) शकुन्तला को भ्रमर से अत्यन्त विकल देखकर लताओ के पीछे छिपा हुआ राजा दुष्यन्त प्रकट होकर कहता है—जब तक दुष्ट व्यक्तियो का सहार करने मे पूर्णत समर्थ, पुरुवश का राजा दुष्यन्त इस ससार का पालन

-कर रहा है तब तक कौन ऐसा व्यक्ति है जो सज्जनो के अनुकूल व्यवहार को छोडकर मुग्धावस्था को प्राप्त भोली-भाली मुनि-कन्याओ से अनैतिक बातें करे? (अर्थात् हे मुनि-कन्याओ, मेरे शासन मे तुम्हें कोई तग नहीं कर सकता।)

(२६) अनसूया से यह सुनकर कि शकुन्तला अप्सरा की पुत्री है, दुष्यन्त उसका समर्थन करने के लिए कहता है—इतनी सौन्दर्यशालिनी कन्या की उत्पत्ति मानव रति द्वारा सम्भव नहीं है। सोचने की बात है कि कहीं पृथ्वी के गर्भ से भी बिजली की ज्योति प्रकट होती है! (तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बिजली की उत्पत्ति आकाश में ही सम्भव है, उसी प्रकार शकुन्तला जैसी सुन्दरी का जन्म केवल देव मिथुन द्वारा ही हो सकता है।)

(२७) प्रस्तुत सवैये मे राजा दुष्यन्त शकुन्तला की सखियो से उसके भविष्य के सम्बन्ध म पूछ रहे हैं—इस ससार मे यह सर्वविदित है कि वन का व्रत अर्थात् वैराग्य धारण कर लेना कामदेव के सम्मोहन आदि कार्यों मे बाधा पहुँचाने वाला शत्रु है। अर्थात् जो व्यक्ति वैराग्य ले लेते हैं वे कामदेव से अप्रभावित रहते हैं। यह शकुन्तला नामक तुम्हारी सुदरी सखी इस वैराग्य को कब तक सहन कर सकेगी? (अर्थात् शकुन्तला अधिक समय तक तपस्वियों के समान आचरण नहीं कर सकेगी। यौवन एव सौन्दर्य के कारण कामदेव इसे आन्दोलित कर लेगा।) अन हे सखियो, मुझे यह बताओ कि जब विवाह होने पर इसका प्रियतम पाणिग्रहण करके इसे अपने साथ ले जाएगा तब उस अवसर पर क्या यह अपने वैराग्य को छोडकर प्रेमपूर्ण जीवन बितायेगी? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि इसने अपने चचल एव सुदीर्घ नेत्रो के समान नेत्रो वाले, आश्रम के हरिणो से खेलते-खेलते इसी प्रकार जीवन बिताने का निश्चय किया हुआ हो।

विशेष—शकुन्तला के सौन्दर्य के कारण दुष्यन्त उस पर अनुरक्त हो गया है और विवाह करना चाहता है। अत वह उसकी सखियों से सांकेतिक रूप मे पूछता है कि शकुन्तला विवाह करेगी या इसी प्रकार आश्रम म रहेगी?

(२८) प्रियवदा से शकुन्तला की जाति के सम्बन्ध मे जानकर दुष्यन्त ने इस सोरठे मे यह स्वगतोक्ति की है कि हे मन! अब मुझे दुख न करना चाहिये

(दुख का एक मात्र कारण शकुन्तला कि जाति, विवाह आदि के सम्बन्ध में उत्पन्न अनेक शकाए थी, किन्तु प्रियवदा से वार्त्तालाप करने के बाद वे सब शकाए मिट गई हैं) जिस शकुन्तला को मैंने अग्नि (ऋषि-कन्या होने से क्षत्रिय से विवाह की असभावना के कारण अग्नि समझा था, वह मेरे लिए अग्राह्य न होकर शरीर पर धारण करने योग्य रत्न के समान है)।

(२६) आश्रम के वृक्षो को सीचने के अनन्तर जब शकुन्तला लौटने का उपक्रम करने लगी तब प्रेमावेश मे दुष्यन्त ने भी उसके पीछे चलने का विचार किया, जिसकी अभिव्यक्ति इन दोहो मे हुई है जब वह मुनी पुत्री अपनी कुटिया मे वापिस जाने लगी तब भावावश मे मैं भी उसके पीछे पीछे चलना चाहता था। तभी मेरे मन म औचित्यानौचित्य से सम्बद्ध मर्यादा की भावना उदित हुई और मैं इस इच्छा को अनैतिक मान कर उसके पीछे एक पग भी नहीं चला। (किन्तु शकुन्तला से मेरा प्रेम इतना अधिक बढ चुका है कि) यद्यपि मैं उसके पीछे पीछे चलने के लिए अपने आसन पर से उठा तक नहीं पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं उसके पीछे छ सात कदम चल कर लौटा हूँ।

(३०) शकुन्तला को थकित देखकर राजा दुष्यन्त उस की सखियों से कहते हैं—(ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्षो का सिचन करते-करते शकुन्तला थक गई।) जल से भरी गगरी उठाने के कारण इस के दोना कन्धे इसके भार से झुक गए हैं। दोनो हाथो म गगरी को पकडकर वृक्षो की जड म जल उडेलते रहने से इसकी दोनो हथलियाँ लाल हो गई हैं। (गगरी पकडने के कारण रक्त हथेलियों म जमा हो गया है अत वे लाल दिखाई देती हैं।) एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के पास जाते रहने के कारण इसकी साँसो का वेग बढ गया है। अत तेजी से श्वास लेते समय इस का वक्षस्थल धडकता हुआ प्रतीत होता है और दोनो उरोज आगे को उभर आते है। इसके मुख पर पसीना आ गया है और कानो मे पहना हुआ कर्णफूल (तरकी) आभूषण भी स्थिर हो गया है। (सिर पर गगरी रखो होने क कारण इसका सिर स्थिर है, अत सरलतापूर्वक सिर को न हिला सकने के कारण इसके कानो का आभूषण हिल नही रहा) इसके बँधे हुए केश अचानक खुल गए हैं। उस बिखरी हुई केश-राशि

को इसने अपने एक हाथ मे पकडा हुआ है।

छन्द सवैया, अलकार स्वभावोक्ति।

(३१) इस स्वगतोक्ति मे राजा दुष्यन्त शकुन्तला की चेष्टाओ के आधार पर उसके अपने प्रति अनुरक्त होने की कल्पना करते हैं—जब मैं शकुन्तला की सखियो से बातें करता हूँ तब यद्यपि यह स्वय भी उसमे रस लेकर सखियो की भाँति, मुझ से बात नही करती, तथापि उन बातो को सुनने के लिए इसके कान निरन्तर मेरी ओर ही रहते हैं। इसी प्रकार सकोच एव मर्यादा के कारण यह सुन्दरी मेरे सम्मुख आ कर खडी नही हो रही, किन्तु इस की दृष्टि किसी दूसरी दिशा मे भी नही जाती।—अर्थात् यह एकटक मेरी ओर ही देख रही है। (अत इन दोनो बातो से मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मैं इस पर अनुरक्त हूँ, वैसे ही यह भी मेरे प्रति मुग्ध है।)

विशेष—इन दोहो मे शकुन्तला के हृदय मे प्रेम और सकोच की स्थिति दिखाई गई है अत यह मुग्धा नायिका है।

(३२) राजा दुष्यन्त के मुनि-आश्रम मे प्रवेश करते समय उसके घोडो के दौडने से धूल उडने लगी और पशु पक्षी भयभीत हो गए। इन्ही लक्षणो के आधार पर मुनिगण दुष्यन्त के आगमन की कल्पना करने लगे। प्रस्तुत दोहो मे इसी वातावरण का चित्रण है—तपस्वी साधु-सन्यासियो ने स्नान करने के उपरान्त अपने गीले वल्कल वस्त्रो को आश्रम मे जिन वृक्षो की शाखाओ पर सुखा दिया था, उन पर (राजा दुष्यन्त के) घोडो के खुरो से उडने वाली धूल जमा हो गई है। उन वस्त्रो एव शाखाओ पर गिरी हुई धूल ऐसी दिखाई देती है मानो सन्ध्या के अरुणिम प्रकाश मे वृक्षो पर टिड्डियो का समूह एकत्रित हो रहा हो।

अलकार उत्प्रेक्षा

(३३) राजा दुष्यन्त के रथ को देखकर वन मे स्वच्छन्द विचरण करने वाला यह हाथी भयभीत होकर तपोवन मे भागा आ रहा है। इसने मार्ग की लताओ को तोडकर अपने पैरो मे उलझा लिया है और ऐसे भाग रहा है मानो यह हिरणो के समूह को भगा रहा हो। अपनी प्रचण्ड शक्ति से वृक्षो को तोडकर भागता हुआ यह ऐसा दिखाई दे रहा है मानो यह

हमारी तपस्या के लिए विघ्नो की साक्षात्-मूर्ति हो । जब यह भयभीत होकर अपने पीछे आते हुए दुश्मन के रथ को देखने के लिए मुँह मोड़ता है तब उसका एक दाँत इसके कन्धे का स्पर्श करने लगता है। (उस समय यह दयनीय दिखाई देता है) । अतः हे मुनियो, इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि आश्रम मे शिकारी राजा आ पहुँचा है।)

छन्द : सवैया, अलकार : उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति ।

(३४) शकुन्तला को कुटिया की ओर लौटते हुए देख कर दुष्यन्त का चंचल मन भी उसी के पीछे चलने लगता है । अत. वे सोचते है—(शकुन्तला को जाते देखकर मैं भी विवश होकर अपने डेरे की ओर लौट रहा हूँ ।) मेरा शरीर तो जैसे-तैसे उस ओर बढ़ रहा है, किन्तु हृदय मेरा साथ नही दे रहा । (वह शकुन्तला के पीछे-पीछे चलकर मुझसे पृथक् हो रहा है।) इस समय मेरे मन की स्थिति, वैसी ही हो गई है जैसे पवन की प्रतिकूल दिशा मे ले जाने पर पताका पवन के प्रवाह की दिशा मे ही फहराती रहती है।

छन्द · दोहा, अलकार . उदाहरण ।

(३५) प्रस्तुत दोहो मे शकुन्तला के कुटिया मे लौटने के उपरान्त राजा दुष्यन्त का स्वगत कथन है—यद्यपि मुझे प्रियतमा शकुन्तला की प्राप्ति असम्भव सी दिखाई दे रही है, किन्तु उसके मुख पर आने वाले भावो (और क्रियाओं) को देख कर मेरे मन मे उससे मिलने की इच्छा प्रबल हो रही है। (यह मिलनेच्छा केवल मेरे हृदय मे ही नही, वरन् शकुन्तला के मन मे भी है, क्योकि) यद्यपि कामदेव ने जो सोचा था वह पूर्ण नही हुआ अर्थात् हम एक-दूसरे से एकान्त-मिलन न कर सके, किन्तु हमारी क्रियाओ से यह स्पष्ट है कि हम दोनो मे इस मिलन-सुख को प्राप्त करने की इच्छा बनी हुई है।

विशेष—शकुन्तला ने लौटते समय झाड़ी मे साडी उलझ जाने का बहाना करके दुष्यन्त की ओर मुड कर देखा था। इसी आधार पर दुष्यन्त ने उपयुक्त कल्पना की है। क्रिया द्वारा सांकेतिक रूप मे प्रेम-प्रदर्शन करने के कारण शकुन्तला क्रियाविदग्धा नायिका की कोटि मे आती है।

(३६) कामी पुरुषो की स्वार्थपूर्ण दृष्टि के सम्बन्ध मे दुष्यन्त की स्वगतोक्ति है—यद्यपि शकुन्तला ने किसी विशेष कार्य से इधर को दृष्टि की

होगी किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसने मुझसे प्रेम होने के कारण ही मेरी ओर देखा है। स्थूल जघाएँ होने के कारण वह मन्थर गति से चलती थी किन्तु मुझे ऐसा लगता था मानो मेरे प्रेम में बँध जाने के कारण वह मुझसे बिछुड़ना नहीं चाहती अतः मन्द गति में चल कर जान-बूझ कर विलम्ब कर रही है। सखी द्वारा चलना के कारण मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता पर जब वह तनिक क्रोध करके उसे धमकाती थी तब मुझे लगता था कि वह (शकुन्तला) यह सब मेरे प्रति प्रेम होने के कारण ही कर रही है। वस्तुतः कामुक व्यक्ति प्रत्येक बात में स्वार्थ देखने का प्रयत्न करते हैं।

छन्द चौपाई

(२७) प्रस्तुत सोरठ में दुष्यन्त ने स्वगत कथन करते हुए शिकार के प्रति अपने उदासीन होने का कारण बताया है—अब मैं अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर इन हरिणों की ओर लक्ष्य नहीं बाँध सकता। (इन्होंने ही मेरी शकुन्तला के प्रति अनुरक्त होने के कारण मैं इनसे भी प्रेम करने लगा हूँ, क्योंकि) प्रेयसी शकुन्तला के साथ रह कर उसे भी अपने जैसी भोली भाली चितवन से देखना सिखा दिया है।

(२८) सेनापति राजा दुष्यन्त के शारीरिक बल के सम्बन्ध में सोच रहा है—राजा दुष्यन्त का शरीर अत्यधिक शक्ति सम्पन्न है। इनका डील डौल वैसा ही बना है जैसा कि पर्वत पर स्वच्छन्द विचरण करने वाले हाथी का होता है। मृगया के समय धनुष की प्रत्यंचा बार-बार खींचने के कारण उसके स्पर्श से (कोमल न रह कर) कठोर हो गए हैं। (मृगया के समय दौड़ धूप करते रहने के कारण) इन्हें थकान का अनुभव नहीं होता और न ही पसीना आता है। धूप लगने पर भी इन्हें कष्ट नहीं होता। यद्यपि मृगों के पीछे भागते रहने के कारण कुछ दुर्बल अवश्य हो गये हैं किन्तु इनका शरीर इतना विशाल है कि उसमें दुर्बलता का पता ही नहीं चलता।

छन्द चौपाई अलंकार उपमा

(२९) प्रस्तुत सवैये में सेनापति राजा दुष्यन्त को मृगया के गुण बता रहा है—मृगया के समय भागते रहने के कारण शरीर की चर्बी कुछ कम हो जाती है आगे को उठी हुई तोंद भी कुछ कम हो जाती है। इस प्रकार सन्तुलित होकर शरीर भागने के योग्य बन जाता है। पशु-पक्षियों से सम्पर्क

रहने के कारण शिकारी मनुष्य को उनकी चित्त वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। भय और क्रोध के अवसरों पर मृग किस प्रकार की शारीरिक चेष्टा करते हैं, इसका भी बोध हो जाता है। यदि धनुष धारण करने वाला शिकारी चलते चलते ही अपने लक्ष्य को भेद दे तो उसका बड़ा यश होता है। (इस प्रकार मृगया यश प्राप्ति में भी सहायक होती है।) सम्पन्न व्यक्तियों के लिए शिकार करने से अच्छा अन्य कोई खेल नहीं है। फिर भी न जाने किस कारण से व्यक्ति इसे बुरा काम मानते हैं।

(४०) सेनापति द्वारा मृगया प्रेम का समर्थन किए जाने पर भी राजा दुष्यन्त ने सोचा कि आश्रम में आखेट अनुचित है और कहा—हे सेनापति आज तो तुम इन भैंसों को सींगों के द्वारा (जल उछाल उछाल कर) तालाब में स्वच्छन्द क्रीड़ा करने दो। मैं चाहता हूँ कि आज ये मृग समूह (भय छोड़ कर) वृक्षों के नीचे आकर बैठें और वहां जुगाली करते हुए असीम सुख का अनुभव करें। शूकर समूह भी आधे सूखे हुए (कीचड़ युक्त) जोहड़ा में जाकर नागरमोथा की जड़ों को उखाड़ कर खाएं। मेरे धनुष की प्रत्यंचा भी आज ढीली हो गई है। (नित्य शिकार करते रहने के कारण यह भी थक गई है अतः) इसे भी आज निश्चेष्ट रह कर अपनी थकान मिटाने दो और इस प्रकार आनन्दानुभव करने दो।

विशेष—प्रस्तुत चौपाइयों में कवि के सूक्ष्म प्रकृति ज्ञान का परिचय मिलता है।

(४१) राजा दुष्यन्त सेनापति से तपस्वियों के क्रोधी स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं—तपस्वियों का हृदय शान्तिप्रिय होता है किन्तु उनके अन्तमन में अग्नि के समान ओज भी छिपा रहता है। (उनके विरुद्ध कार्य करने पर वे अपने तेज का आश्रय लेकर व्यक्ति को दुष्कर्मों का फल देते हैं।) जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि ऊपर से शीतल होती है और स्पर्श करने से आग को दग्ध नहीं करती किन्तु सूर्य के ताप से क्षुब्ध होकर (सूर्य किरणों का स्पर्श प्राप्त करते ही) अग्नि उगलने लगती है (उसी प्रकार ऋषियों का स्वभाव भी होता है। वे प्राय शान्त रहते हैं किन्तु प्रतिकूल आचरण करने वाले पर क्रुद्ध भी होते हैं। अतः हे सेनापति तुम हमारे सभी साथियों से

आश्रम मे प्रवेश न करने के लिए कह दो।)

छन्द दोहा अलकार उदाहरण।

(४२) राजा दुष्यन्त अपने अन्तरग सखा माढव्य को शकुन्तला की जाति क सम्बन्ध म बता रहे हैं—शकुन्तला ऋषि की कन्या तो कहने मात्र को है। उसका जन्म तो अप्सरा के गर्भ से हुआ है। जन्म देते ही उसकी माता उसे बिना दूध पिलाये पृथ्वी पर छोडकर (आकाश म) चली गई थी। (अप्सरा द्वारा परित्यक्त वह शकुन्तला ऐसी लगती थी मानो चमेली का सुन्दर पुष्प शाखा से विलग होकर आक के पौधे पर गिर गया हो। (आक का पौधा जहरीला माना जाता है। यहाँ कवि का अभिप्राय यह है कि चमेली के पुष्प क समान सुन्दरी शकुन्तला ससार रूपी आक के पौधे पर गिर पडी थी।) उसी समय वहाँ कण्व मुनि अनायास ही आ गए। उस बालिका को अकेली पडी देखकर उनका कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने उसे अपनी गोदी मे उठा लिया (तथा आश्रम म ले आए।) तदनन्तर उन्होंने पिता के समान उसका लालन पालन किया इसी कारण शकुन्तला मुनि-पुत्री कहलाती है।

उसने अभी तक किसी पुरुष का साहचर्य नहीं किया। वह ऐसे स्वच्छ पुष्प के समान है, जिसे अभी तक किसी ने नहीं सूँघा। अथवा वह ऐसे नव कोमल पल्लव के समान है जिस पर किसी के हाथ के नाखून न लगे हों (कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि) वह एक ऐसे रत्न के समान है जिसमें कोई छिद्र नहीं है। अथवा वह किसी के पुण्य कर्मों का अखण्ड फल है। (अर्थात् ऐसी सुन्दर नारी की प्राप्ति अत्यन्त पुण्य स्वरूप ही होती है।) वस्तुतः वह तो शहद का ही प्रतिरूप है, जिसे अभी तक किसी ने नहीं चखा। (अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शहद का आस्वाद मधुर होता है, उसी प्रकार उसका साहचर्य भी सरस एवं आनन्द प्रदान करने वाला है।) मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा कि विधाता ने इस सुन्दर युवती की प्राप्ति किस पुरुष के भाग्य मे लिखी है ?

छन्द : सवैया, अलकार · उत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

(४५) इन दोहों मे दुष्यन्त का माढव्य से कथन है—उस यद्यपि कन्या शकुन्तला ने मेरे सम्मुख आने पर सहज सकोच के कारण अपने नेत्रों को दूसरी ओर कर लिया। तदनन्तर कोई बहाना करके उसने मेरे प्रति मधुर स्मिति भी व्यक्त की। वस्तुत लज्जा एव मर्यादा के कारण वह सब के सामने प्रकट रूप से मुझ से प्रेम न कर सकी, किन्तु (यौवन के कारण उसके शरीर मे) कामदेव की चेष्टाएँ छिपी नहीं रह सकीं। अर्थात् उसके व्यवहार मे इसका स्पष्ट आभास था कि वह मेरे प्रति अनुरक्त है।

(४६) वह अबला शकुन्तला (कुटिया की ओर जाते समय) कुछ दूर चलकर मार्ग मे रुक गई और बहाना किया कि उसके पैर मे दाभ (एक प्रकार की घास) का काँटा चुभ गया है। किन्तु, उस स्थान पर दाभ भी तो थी ही नहीं, अत वह केवल बहाना था। इसी प्रकार उसका वल्कल वस्त्र किसी वृक्ष या झाड़ी मे नहीं उलझा था, किन्तु वह उसे (उलझा हुआ कल्पित करके) सुलझाने के बहाने से शरीर मोड़कर क्षण भर के लिए वहीं रुक गई। (अत हे माढव्य, उसकी इन क्रियाओं को देखकर मुझे विश्वास है कि वह मेरे प्रति अनुरक्त है।)

छन्द : दोहा; अलकार : विभावना।

(४७) जब माढव्य दुष्यन्त को तपस्वियों से अन्न का छठा अंश मांगने का बहाना करने के लिए कहता है तब दुष्यन्त का कथन है कि—हे तपस्वियों अर्थात् ब्राह्मणों को छोड़ कर शेष वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) से राजा छठे भाग के रूप में जो अन्न या धन ग्रहण करते हैं वह एक न एक दिन विनष्ट हो जाता है। किन्तु, तपस्वी तो तप करके राजा को उसका छठा अंश अर्पित करते हैं, जो कभी नहीं मिट सकता। (अतः ऐसी अमिट वस्तु देने वाले तपस्वियों से धन आदि के रूप में छठा भाग देने के लिए नहीं कहा जा सकता।)

(४८) प्रस्तुत चौपाइयों में एक ऋषिकुमार राजा दुष्यन्त का यशोगान कर रहा है—इस राजा दुष्यन्त ने नगर को छोड़कर आश्रम में अपना निवास बना लिया है। अपनी प्रजा का यथोचित लालन-पालन करता हुआ यह तप से प्राप्त होने वाले फलों का ही संचय कर रहा है। (अर्थात् जिस प्रकार तपस्वी शुद्ध मन से तप करके पुण्यों की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार राजा दुष्यन्त भी प्रजा का पालन करके तप के फलों को प्राप्त कर रहा है।) इसे देव नगरी (स्वर्ग लोक) में पवित्र ऋषि पद प्राप्त हो गया है। अर्थात् देव-वृन्द भी इसे ऋषि की भांति पूजित मानते हैं। वहाँ चारण-वृन्द प्रणति पूर्वक इनका यशोगान करता है और साथ में 'राज' शब्द भी जोड़ देता है। (अर्थात् दुष्यन्त को ऋषियों से भी उच्चतर पदवी मिली हुई है। चारण उसे 'राजर्षि' कहते हैं।)

(४९) दुष्यन्त को इन्द्र का सखा जानकर दूसरा ऋषिकुमार भी उसके पराक्रम की प्रशंसा करता है—वह राजा दुष्यन्त नीलवर्णी समुद्रों तक (अर्थात् दूर-दूर तक) फैली हुई पृथ्वी पर अकेला ही शासन कर रहा है। यह सुनकर किसी को आश्चर्य चकित नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसकी भुजाएँ इतनी विशाल हैं मानो नगर के द्वार की रक्षा करने के लिए सुदृढ़ अर्गलाएँ हों। (इन्हीं शक्ति-सम्पन्न भुजाओं के बल पर वह समग्र भूमि के ऐश्वर्य का एकाकी भोगता है।) स्वर्ग की देव-जाति भी युद्ध में दानवों पर विजय प्राप्त करने के लिए केवल इस राजा दुष्यन्त के चढ़े हुए धनुष और इन्द्र के कठोर वज्र को आशापूर्ण दृष्टि से देखती है। अतः स्पष्ट है कि राजा दुष्यन्त भी इन्द्र के समान पराक्रमी है।)

(५०) प्रस्तुत दोहो मे दुष्यन्त द्वारा कण्व मुनि की अनुपस्थिति मे आश्रम की रक्षा करने की प्रार्थना स्वीकृत किये जाने पर ऋषिकुमार उसका यशोगान करते हैं—हे राजा दुष्यन्त, आप अपने पूर्वजो की परम्पराओ का निर्वाह करते हुए उन्ही के अनरूप कार्य कर रहे हैं। धर्म-रूपी ध्वजा को धारण करने वाले आप जैसे राजा के लिए यही उचित था (कि आप इसी प्रकार हमारी आश्रम-रक्षा की प्रार्थना को स्वीकार करते।) पुरुवंशी राजा शरणागत दु खी व्यक्तियो के दु ख दूर करके उन्हे निर्भय बनाने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते हैं।

विशेष—यहाँ 'कवच बाँधे रहना' का अर्थ सदैव तत्पर रहना किया गया है।

(५१) करभक नामक दूत के मुख से राजरानी माता द्वारा बुलाए जाने का सन्देश सुनकर राजा दुष्यन्त अपने मित्र माढव्य से कहते हैं—इस समय दो दूरवर्ती स्थानो पर दो काम एक साथ ही सम्पन्न करने हैं—अर्थात् एक ओर तो मुझे आश्रम के तपस्वियो की रक्षा करनी है और दूसरी ओर नगर मे माता जी के पास जाना है। इन दोनो मे से मुझे कोई भी ऐसा नही दिखाई देता जिसकी उपेक्षा की जा सके। इसी कारण मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। जिस प्रकार मार्ग मे शिला आ जाने के कारण नदी के जल का प्रवाह उससे टकराकर दो धाराओ मे विभक्त हो जाता है, उसी प्रकार इस चिन्ता के कारण मेरा हृदय भी खण्डित हो रहा है।

छन्द दोहा, अलकार उत्प्रेक्षा पुनरुक्तिप्रकाश।

(५२) अपने स्थान पर माढव्य को नगर म भेजते समय दुष्यन्त को भय लगता है कि कही वह उनके और शकुन्तला के प्रेम-सम्बन्धो की चर्चा राज-परिवार मे न कर दे। इसी कारण वे प्रस्तुत दोहो म माढव्य म कहते हैं—मुझ म और शकुन्तला म बहुत अन्तर है। (मैं तो राजवंश का हूँ और) वह हरिणो के साथ पलने वाली सामान्य नारी है। (अत मैं उससे प्रेम नही कर सकता।) वह बिचारी कामुक प्रसगो को अथवा शृगार रस की मधुर रस की बातो का समझने मे भी असमर्थ है। (क्योकि उसका पालन-पोषण नगर से दूर आश्रम के शान्त वातावरण मे हुआ है।) हे मित्र, वास्तविकता तो यह

है कि मैंने उस शकुन्तला के सम्बन्ध में तुझ से जो बातें की थीं, वह सब यों ही विनोद मात्र था। मेरी उस प्रेम चर्चा को सत्य न समझ लेना।

(५३) आश्रम में रहने वाला एक शिष्य राजा दुष्यन्त के पराक्रम की प्रशंसा करता है — इसने अभी अपने धनुष पर बाण नहीं चढाया था, केवल प्रत्यंचा (मुर्वी) की टंकार की थी, किन्तु इसके धनुष के शब्द मात्र से ही आश्रम के सम्पूर्ण विघ्न समाप्त हो गये हैं। (अतः इसमें सन्देह नहीं कि यह राजा अत्यन्त प्रतापी है।)

छन्द दोहा अलंकार विभावना।

(५४) विरही दुष्यन्त की स्वगतोक्ति है कि मैं इस तथ्य से अपरिचित नहीं हूँ कि तप का प्रभाव महान् होता है और मुझे यह भी ज्ञात है कि शकुन्तला दूसरे के वश में है। अर्थात् शकुन्तला को मुझ से प्रेम करने से पूर्व कण्व मुनि की अनुमति लेनी पडेगी। और, यदि कण्व को शकुन्तला के प्रति मेरा प्रेम अनुचित लगा तो वे तप के प्रभाव से शाप भी दे सकते हैं।) किन्तु फिर भी मेरा व्याकुल हृदय शकुन्तला से विरक्त होने में असमर्थ है। इस समय मेरे चित्त की अवस्था ऐसी हो गई है जैसे निम्नस्थ भूमि में पहुँच कर जल का प्रवाह पीछे की ओर नहीं लौट पाता। (शकुन्तला की ओर गति शील होकर मेरा मन पीछे नहीं लौट सकता। ऐसी विषम परिस्थिति में हृदय की व्याकुलता को कम करने के लिए) मैं क्या उपाय करूँ?

(५६) विरह व्याकुल दुष्यन्त का कामदेव के प्रति कथन है कि (हे कामदेव, तेरे सन्तप्त करने वाले कार्यों को देखकर) मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि जिस प्रकार समुद्र में बड़वानल अब भी विद्यमान है उसी प्रकार भगवान् शंकर के क्रोध की अग्नि तेरे शरीर में अभी तक प्रज्ज्वलित है, यदि ऐसा न होता तो तू मुझ-जैसे निस्सहाय विरही व्यक्ति को इतना पीड़ित नहीं कर सकता था, क्योंकि तू तो स्वयं ही भस्म हो चुका था। (कवि का तर्क है कि शंकर की क्रोधाग्नि से विनष्ट हो जाने वाले कामदेव के शरीर में यदि अभी तक वे अग्निकण विद्यमान न होते तो विनष्ट हो जाने के अनन्तर वह विरहियों को ताप कैसे पहुँचा सकता था।)

छन्द दोहा, अलंकार उदाहरण, अनुप्रास

(५७) इन दोहों में भी दुष्यन्त के प्रताप का वर्णन किया गया है—हे कामदेव, तू मुझे बारम्बार पीड़ित करके मेरे हृदय में बाधा अथवा विकलता उत्पन्न करता है और मुझे क्षण-भर के लिए विश्राम भी नहीं करने देता। किन्तु, मैं इसे तेरा परम उपकार मानता हूँ, क्योंकि मुझे पीड़ित करने में तेरा कोई स्वार्थ नहीं है वरन् उस मादक नेत्रों वाली शकुन्तला को मुझे प्राप्त कराने में सहायता देने के लिए ही तू मुझ पर प्रहार करके और अधिक व्याकुल बना रहा है।

विशेष—कामदेव की ध्वजा पर मकर (मछली) का चिह्न अंकित रहता है, इसी कारण वह 'मकरध्वज' कहलाता है।

(५८) कामदेव के प्रति राजा दुष्यन्त का कथन है कि हे कामदेव, मैंने व्रत-नियमों का पालन करके व्यर्थ ही शक्ति प्रदान की। (मेरा अनुमान था कि मुझसे प्रसन्न होकर तू मुझे सुन्दरी की प्राप्ति में सहायता देगा, किन्तु आज मुझे तन्वंगी शकुन्तला के विरह में व्याकुल होना पड़ रहा है अतः तेरी पूजा द्वारा मेरे अभीष्ट की रक्षा न हो सकने के कारण) मेरा पूजा विधान असफल ही रहा। (तू अपने मन में विचार करके देख कि मुझ-जैसे अपने भक्त के प्रति) क्या यही व्यवहार उचित है कि तू अपने धनुष की प्रत्यंचा को बलपूर्वक कानों तक खींच कर मेरे हृदय पर विरह-बाण चलाकर उसे बेधने का प्रयास करे? (अर्थात् हे कामदेव, तुझे प्रेमी-जनों को सन्तप्त नहीं

करना चाहिए।)

विशेष—रसिक व्यक्ति राम, कृष्ण आदि देवताओं की भांति कामदेव की भी उपासना करते हैं और उसे प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। प्रस्तुत शिखरिणी छन्द की प्रथम पंक्ति में इसी ओर संकेत किया गया है।

(५६) आश्रम से समीपवर्ती कुंज में विहार करते हुए राजा दुष्यन्त का आत्म कथन है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी प्रेयसी शकुन्तला ने इन लताओं से पुष्प और पत्तों का चयन कुछ क्षण पूर्व ही किया होगा। क्योंकि, लताओं के जिन अंगों से इन्हें तोड़ा गया था वहाँ (पुष्प या पत्ते तोड़ने से निकलने वाला) दूध जैसा श्वेत तरल पदार्थ अभी तक सूख नहीं पाया है और न ही लताओं के वे विक्षत अंश अभी सामान्य अवस्था को प्राप्त कर सके हैं।

(६०) काम पीड़ित होने के कारण मन के साथ साथ मेरा शरीर भी खिन्न है किन्तु शीतल वायु के स्पर्श से मेरे अंग सुख लाभ कर रहे हैं। यह वायु कमल के पराग की मादक सुगंध से युक्त है और मालिनी नदी की तरंगों में उत्पन्न जल कणों को भी लिए है।

विशेष—मालिनी के तट पर शकुन्तला का जन्म हुआ था अतः उसके जल का स्पर्श करके आने वाली पवन का स्पर्श दुष्यन्त को सुखद प्रतीत होना स्वाभाविक है।

ढीला कगन (वलय) धारण किया हुआ है। यद्यपि शरीर से वह कुछ अस्वस्थ प्रतीत होती है, किन्तु फिर भी वह चन्द्रकला जैसी सहज-मनोहर कान्ति लिए हुए है। कामदेव और ग्रीष्म ऋतु के ताप को समान-गुण वाला कहा जाता है, किन्तु ग्रीष्म के ताप अथवा त्रास से अबला नारियो का रूप ऐसा मनोहारी नही हो जाता। (अत इस कन्या के हृदय में निश्चय ही काम-भावना का ताप है।)

छन्द सवैया, अलकार उपमा

(६३) प्रिय-विरह के फलस्वरूप शकुन्तला की दुर्बलता को लक्षित करके इस छन्द मे दुष्यन्त की स्वगतोक्ति है कि मेरी प्रिया के मुख और कपोलो पर क्षीणता आगई है। उसकी छाती अथवा उरोजो मे भी अब (शिथिलता के फलस्वरूप) वैसा कडापन नही रहा है। उसकी क्षीण (दूबर) कटि अब और भी क्षीण हो गई है, कन्धे झुक गए हैं तथा मुख पर पीलापन छा गया है। यह नारी, जो मन और दृगो मे अनुराग उत्पन्न करने वाली है, इस समय कामदेव द्वारा व्यथित होने के फलस्वरूप करुणा-योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आद्रता अथवा शीतलता को पी लेने वाली (पीतसोख) तप्त दुःख-दायिनी वायु द्वारा सताई गई माधवी लता की भाँति यह भी काम-पीडिता है।

छन्द चौपाई अलकार उत्प्रेक्षा।

(६४) शकुन्तला की विरह दशा को देखकर राजा दुष्यन्त इस स्वगतोक्ति म कहते हैं कि इस रमणी (त्रिया, शकुन्तला) की सखियाँ, जो इसके सुख-दुःख की साथी हैं, परस्पर मिलकर इसके दुःख अथवा विकलता का कारण पूछ रही हैं। यह अपने हृदय रोग के कारण को निश्चय ही उन्हे सत्य-भाव से बतला देगी। पूर्वावस्था म इसने मेरी ओर बार बार चाव स देखा था, मानो प्रिया के मुख को देखना ही इसके दुःख को दूर करने का उपाय है। फिर भी इस समय मेरे हृदय मे धैर्य नही है और मैं यह सोचकर विकल हूँ कि न-जाने यह अपनी विकलता का क्या कारण बताएगी?

छन्द सवैया, अलकार उत्प्रेक्षा, अनुप्रास

(६५) शकुन्तला को अपने प्रति अनुरक्त जानकर दुष्यन्त ने इन दोहो में यह भाव व्यक्त किया है कि पहले कामदेव ने मेरे मन मे प्रेम-भाव का

ने दुष्यन्त को लक्ष्य में रख कर की है। इनका भाव इस प्रकार है—हे प्रिय ! मैं तेरे मन की बात तो नहीं जानती, पर तू निर्दय अवश्य है, क्योंकि तू अपनी ओर से मेरी सुधि नहीं ले रहा। किन्तु, मेरे मन को तो कामदेव-नित्य विकल कर रहा है, (अतः मैं तेरे दर्शनों के लिए विकल हूँ।) मुझे तुझसे ऐसी प्रीति हो गई है कि मन अहर्निश अशान्त रहता है। काम के आवेग से मेरा शरीर तापयुक्त रहता है और तुझसे मिलने की अभिलाषा तीव्रतर रहती है।

(७०) शकुन्तला द्वारा लिखे गए प्रेम-पत्र के छन्दों को सुनकर दुष्यन्त सहसा प्रकट होकर कहता है—हे कोमलांगी शकुन्तला ! कामदेव तुझे तो केवल सन्तप्त ही कर रहा है, किन्तु तू अपने हृदय में विचार कर तो देख—मुझे तो भस्मीभूत ही किये दे रहा है। (अतः तेरी वियोग-व्यथा से मेरा दुःख अधिक है। वैसे भी वस्तु-विशेष का प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न रूप में पड़ता है। उदाहरणार्थ) प्रातःकालीन सूर्य के दर्शन से (अथवा उदय से) कुमुदिनी के पुष्पों की तो केवल सुगन्धि ही कम होती है (उनका सौंदर्य क्षीण हो जाता है), किन्तु चन्द्रमा तो पूर्णतः श्वेत (सर्वथा कान्तिहीन) हो जाता है।

छन्द : क्रमशः दोहा व सोरठा; अलंकार : अर्थान्तरन्यास।

(७१) प्रस्तुत दोहों में शकुन्तला को अपने सम्मानार्थ खड़ी होती हुई देखकर दुष्यन्त ने कहा—हे सुन्दरी शकुन्तला ! तुम्हारा शरीर पुष्प शैय्या का स्पर्श पाकर तथा कमल की पंखुड़ियों, के मसले जाने से उनकी गन्ध को अपना कर विशेष कोमल हो गया है। विरह-रूपी रोग के प्रहार (घात) के फलस्वरूप तुम्हारे अंग शिथिल दिखाई देते हैं। तुम्हारे ये कोमल अंग मेरा आदर करने के लिए खड़े होने के योग्य नहीं है। (इससे तुम्हारे कोमल शरीर को कष्ट होगा, अतः तुम इसी प्रकार पुष्प-शैय्या पर लेटी रहो।]

(७२) शकुन्तला की व्यंग्योक्ति सुनकर राजा दुष्यन्त का कथन है—हे मद युक्त नेत्रों वाली शकुन्तला ! मेरा मन केवल तेरे ही वश में है, अन्य किसी के नहीं। (अतः तेरा यह कहना उचित नहीं है कि मुझे अन्तःपुर की रानियों का स्मरण हो रहा होगा।) मेरे हृदय में केवल तेरा ही निवास है। यदि तुझे अन्य किसी प्रकार की शंका हुई तो मैं यही समझूँगा कि मुझे पहले तो काम-देव के बाणों ने घायल किया था और अब तू (मेरे प्रेम के प्रति सन्देह करके)

मुझे मार रही है।

(७३) अनुसूया की ओर से शकुन्तला को अन्तःपुर में विशेष गौरव देने की प्रार्थना पर दुष्यन्त की उक्ति है—मेरे अन्तःपुर में (संख्या की दृष्टि से चाहे) कितनी ही रानियाँ क्या न हों, किन्तु मेरे राजवंश की गौरवस्वरूपिणी तो केवल दो ही रहेंगी—एक तो सागर रूपी मेखला (रसना) धारण करने वाली पृथ्वी और दूसरी तुम्हारी सखी शकुन्तला।

विशेष— 'रसना' के स्थान पर 'वसना' पाठ भेद होने पर इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—*सागर रूपी वस्त्र को धारण करने वाली पृथ्वी।*

(७७) शकुन्तला द्वारा अचल छोड़ने का अनुनय करने पर दुष्यन्त की उक्ति है—जिस प्रकार भ्रमर अवसर प्राप्त करके कमल के सद्य प्रस्फुटित नवीन पुष्प का धीरे-धीरे रस-पान करता हुआ अपने हृदय की पिपासा को शान्त करता है, उसी प्रकार हे सुख प्रदान करने वाली प्रेयसी ! जब मैं तेरे सर्वथा अचुम्बित अधरो के अमृत-रस का आस्वाद ले लूँगा (तब तेरे अचल को छोड़ूँगा ।)

छन्द दोहा, अलकार उदाहरण, पुनरुक्तिप्रकाश।

(७८) गौतमी के साथ शकुन्तला के चले जाने पर दुष्यन्त व्यथित होकर सोचता है—शकुन्तला ने (मुझे चुम्बन करने के लिए उद्यत देखकर लज्जा-वश) बारम्बार अपने होठो को अँगुलियो से छिपा लिया और मुस्करा कर मधुर शब्दो मे 'नही-नही' कहने लगी। उस समय (उसके द्वारा मना किये जाने पर भी) मैंने उस हरिणी (चचल एव विशाल) नेत्रो वाली शकुन्तला के मुख को अपने हाथो से तनिक ऊपर की ओर उठाया (जिससे चुम्बन करने मे सुविधा हो सके।) किन्तु दु ख है कि गौतमी के अनायास आगमन के कारण) मैं उसके अधरामृत का आस्वाद पाने मे सफल न हो सका।

छन्द दोहा, अलकार पुनरुक्तिप्रकाश

(प्रेम-प्रसग मे प्रियतमा की 'नही-नही' का वर्णन प्राय अधिकाश रीति-कवियों ने किया है। कवि दूलह का 'धरी जब बाही, तब करी तुम नाही', पांय दियो पलकाहि, नाही-नाही कै सुहाई हो।''' '''' यह कवित्त तो प्रसिद्ध है ही !)

(७९) लता मडप मे जिस स्थान पर बैठकर शकुन्तला और दुष्यन्त ने प्रेम-चर्चा की थी उसके विषय मे दुष्यन्त की स्वगतोक्ति है—यह शिला-खण्ड प्रिया शकुन्तला के लिए शय्या-स्वरूप है। इस पर अभी तक फूल बिखरे हुए हैं और (शकुन्तला द्वारा विश्राम करने के कारण) इस पर उसके शरीर का चिन्ह भी यथावत् बना हुआ है। यह वही प्रेम-पत्र मुरझाया हुआ पडा है, जिसे उसने (मुझे देने के लिए) नाखून से कमल के पत्ते पर लिखा था। यह कमल-नाल निर्मित ककण भी वही है जो (प्रेम-प्रसग मे) उसके हाथ से निकल कर नीचे गिर गया था। (प्रिया की स्मृति-रूप) इन वस्तुओ को देख कर दुर्भाग्यशाली मैं इस निर्जन वेत्र (बेत)-मण्डप को छोड कर जाने में

भी असमर्थ हूँ। (अर्थात् प्रिया के अभाव में मैं इन्हीं से सम्पर्क बनाये रखना चाहता हूँ।)

छन्द चौपाई, अलंकार स्वभावोक्ति

(८०) प्रस्तुत दोहों में नेपथ्य से आने वाली ध्वनि की ओर संकेत है—सन्ध्याकालीन पूजन का समय होते ही तपस्वियों की प्रज्वलित यज्ञ वेदियों में राक्षसों की छाया आकृतियाँ चारों ओर से प्रगट होने लगती हैं। वे सन्ध्याकालीन मेघों के समान काले और पीले रंग की होती हैं तथा आश्रम के तपस्वियों को दुखी एवं भय-ग्रस्त कर देती हैं। अभिप्राय यह है कि हे राजन! इस सन्ध्या काल में आप राक्षसों से हमारी रक्षा करने के लिए आश्रम में आ जाएँ।

(८१) दुष्यन्त की स्मृति में निमग्न शकुन्तला द्वारा अपनी उपेक्षा जानकर दुर्वासा ऋषि ने क्रुद्ध होकर उसे यह शाप दिया— मैं तपोनिष्ठ ऋषि हूँ अर्थात् तप को ही धन मानता हूँ। (आश्रम के सभी निवासी मेरा आदर-सत्कार करते हैं) किन्तु तूने मुझे अपने सामने आया हुआ देख कर भी नहीं पहचाना। (अतः मैं तुझे शाप देता हूँ कि) तू जिसका एकनिष्ठ भाव से स्मरण कर रही है और जिसके कारण तूने अन्य सबकी सुधि भुला दी है, वह व्यक्ति तुझे भुला देगा और करोड़ों उपाय करने पर भी तुझे स्मरण न कर पाएगा। जिस प्रकार मद्य के नशे में डूबा हुआ व्यक्ति पहले कोई बात कहकर तत्क्षण उसे भूल जाता है उसी प्रकार तेरा प्रेमी भी तुझे भूल जाएगा।

छन्द चौपाई अलंकार उदाहरण।

(८२) कण्व के शिष्य ने प्रातःकालीन आकाश की शोभा देखकर कहा—एक ओर औषधियों का स्वामी चन्द्रमा (प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा की शीतल कान्ति से औषधियों के गुणों का विकास होता है) पर्वत शिखरों की ओट में अस्त हो रहा है और दूसरी ओर कमलिनीपति सूर्य का उदय हो रहा है। सूर्य का रंग अरुण है और वह अन्धकार का नाश करने वाला है। चन्द्रमा के अस्त और सूर्य उदय से यह शिक्षा मिलती है कि प्रेम (मदन) अथवा ऐसे ही कोमल गुण और ओज गुण (तेज) के उदय अथवा अस्त का क्रम जीवन की स्वाभाविक रीति है। मनुष्य को सुख (उदय) और दुख (अस्त)

मे समत्व-बुद्धि रखनी चाहिए, क्योंकि सपत्ति और विपत्ति मे धैर्य तथा धर्म (कर्त्तव्य) का एक ही भाव से निर्वाह करना मानव का गुण है। (यहाँ प्रकृति का उपदेशात्मक रूप मे चित्रण हुआ है। 'औषधि राई' और 'पद्मिनी नायक' का साभिप्राय प्रयोग होने के कारण परिकरांकुर अलंकार है।)

(८३) कण्व के शिष्य ने इसी प्रसग मे पुन कहा—चन्द्रमा पर्वत-शिखरो के पीछे पहुँच कर अस्त हो रहा है, फलत कुमुदिनी के पुष्प मुरझाने लगे हैं। कुमुदिनी का विकास चन्द्रोदय-काल मे ही होता है, अत अब निष्प्रभ हो जाने के कारण इनके सौन्दर्य की स्मृति-मात्र रह गई है, इनके नेत्रो का प्रत्यक्ष अनुरजन नहीं हो रहा है। जिन स्त्रियो के प्रियतम घर छोडकर परदेश गए हुए हैं उन (प्रोषितपतिकाओ) के दुख का वर्णन करते नहीं बनता। (शक्ति सम्पन्न पुरुष तो किसी प्रकार दुख सहन कर लेगा, किन्तु) वे अबला नारियाँ प्रिय विछोह को किस प्रकार सहन करती होगी ? (अर्थात् प्रात काल के इस मादक वातावरण को देख कर प्रोषितपतिकाओ का दुख असहनीय हो जाता है।)

(८४) प्रियवदा ने अनुसूया को बताया कि कण्व के परितोष के लिए यह आकाश वाणी हुई थी—हे तपस्वी जिस प्रकार शमी वृक्ष के काष्ठ में अग्नि प्रत्यक्ष रूप म विद्यमान रहती है उसी प्रकार पुत्री शकुन्तला भी अपने गर्भ म उस तेज (अथवा वीर्य) को धारण किए हुए है जो (एकान्त मे प्रेमालाप करते समय) राज्य रक्षार्थ (पुत्र उत्पन्न करने के लिए) दुष्यन्त ने उसे दिया था।

छन्द दोहा, अलकार उदाहरण।

(८५) गौतमी द्वारा यह पूछे जाने पर कि शकुन्तला के लिए वस्त्राभूषण कहाँ से आए, एक ऋषिकुमार ने उत्तर दिया—किसी वृक्ष ने तो चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण वाली मगलास्वरूपिणी साडी अपने शरीर से उतार कर दी और किसी अन्य वृक्ष ने लाख का रस प्रदान किया, जिससे शकुन्तला के चरणो को रँगने के लिए महावर बनाया जा सके। अन्य वृक्षो ने अपनी नव सौन्दर्य विभूषित शाखाओ के माध्यम से अनेक प्रकार के सुन्दर आभूषण प्रदान किए, जिन्हे देखने पर ऐसा विदित होता था मानो ये

शाखाएँ नहीं, अपितु वनदेवियों के पहुँचे तक के (कुहनी और कलाई के बीच का भाग) हाथ हैं।

छन्द चौपाई, अलंकार उपमा।

(८६) शकुन्तला के पति-गृह जाने से पूर्व कण्व मुनि स्नेह विह्वल होकर सोचने लगे—(बाल्यावस्था से मेरे साथ रहने वाली) शकुन्तला आज आश्रम से विदा होगी, यह सोच कर मेरा मन अत्यन्त विकल हो रहा है। मेरे शोकाश्रु नेत्रों में ही रुक गए हैं, कण्ठ अवरुद्ध हो गया है और दृष्टि धुँधली पड़ गई है। (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शोकावेग में अश्रु प्रवाह रुक जाता है।) पुत्री की विदा के समय मुझ जैसे निस्पृह वनवासी को ही इतनी मोह-व्यथा हो रही है तो गृहस्थ लोग कन्या की प्रथम विदा-वेला को किस प्रकार सहन करते होंगे? (अर्थात् उन्हें तो अत्यधिक दुःख होता होगा।)

विशेष—प्रस्तुत दोहे से लेकर चतुर्थ अंक की समाप्ति तक के सभी छन्द अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। नाटकगत काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इनका विशिष्ट स्थान है।

(८७) शकुन्तला को विदा करते समय कण्व मुनि ने उसे यह आशीर्वाद दिया—जिस प्रकार शर्मिष्ठा ने ययाति को वर रूप में पाकर आदर पाया था, उसी प्रकार तुम भी अपने पति दुष्यन्त के यहाँ आदर प्राप्त हो। (अर्थात् जिस प्रकार शर्मिष्ठा ने अपने प्रेम के बल पर, अन्य रानियों की अपेक्षा पति का अधिक आदर प्राप्त किया था उसी प्रकार अन्तःपुरी की ज्येष्ठ रानियों की तुलना में दुष्यन्त तुम्हें अधिक गौरव दें।) साथ ही, (मैं यह मंगल-कामना भी करता हूँ कि) जैसे शर्मिष्ठा ने पुरु नामक छत्रपति पुत्र को जन्म दिया था वैसे ही तेरे गर्भ से भी सुन्दर एवं चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हो।

छन्द क्रमशः दोहा व सोरठा, अलंकार उदाहरण।

(८८) जिस समय शकुन्तला अग्नि की प्रदक्षिणा कर रही थी तब कण्व मुनि ने कहा—वेदी के चारों ओर वेद-विहित रीति से अग्नि प्रज्वलित की गई है। वेदी के निकट ही कुश (विशेष प्रकार की घास) बिछी हुई है। यह अग्नि समिधा (यज्ञाग्नि में डाली जाने वाली लकड़ी) द्वारा प्रज्वलित होकर ज्योतित हो रही है। इस पवित्र अग्नि में (देवताओं को प्रसन्न करने के

लिए) डाली जाने वाली सामग्री [हवि] की गन्ध से युक्त धुआँ मनुष्य के समग्र पापों का नाश कर देता है। अग्नि की यह पवित्र ज्वाला तेरे दुष्कर्मों अथवा विघ्नों का भी विनाश करे, यह मेरी मंगलकामना है।

छन्द : शिखरणी

(८९) कण्व मुनि आश्रम के वृक्षों से शकुन्तला की पति-गृह जाने की अनुमति देने को कहते हैं—जो तुम्हें जल से सिंचित करने के उपरान्त ही पानी पीती थी, जिसे आभूषण धारण करने का चाव था, किन्तु तुम्हें कष्ट न देने के भाव से जो (आभूषण बनाने के लिए) तुम्हारे पुष्पों और पत्तों को सकोचपूर्वक तोडती थी, जब प्राणियों को सुख प्रदान करने वाले तुम्हारे पुष्पायित होने की ऋतु आती थी, उस समय तुम्हें पुष्पों से आच्छादित देख कर जो अत्यन्त हर्षित होती हुई उत्सवों का आयोजन करती थी, ऐसी (तुमसे प्रेम करने वाली) यह शकुन्तला आज पति-गृह जा रही है। अत हे आश्रम के वृक्षो ! तुम स्नेह-भाव से इसे जाने की अनुमति दो। (इन दोहा मे चित्र शैली का सौन्दर्य दृष्टव्य है।)

(९०) कोयल की ध्वनि को ही वृक्षों की अनुमति मान कर कण्व ने कहा—तपस्वियों को बन्धुओं के समान प्रिय व श्रेष्ठ और विशाल वृक्ष (वनराय) कोयल की मधुर ध्वनि के माध्यम से मानो शकुन्तला को पति-गृह जाने की आज्ञा दे रहे हैं ! (यहाँ मानवीकरण अलकार है।)

(९१) वन-देवियाँ शकुन्तला की विदा के समय मगल कामना करती हैं कि इसका यात्रा मार्ग सुखद हो वायु मन्द गति से अनुकूल रूप से प्रवाहित हो तथा स्थान-स्थान पर नदी एवं तालाब आएँ, जिसमें विकसित हरित कमलिनियाँ इसे चिन्तामुक्त करके अपनी ओर आकर्षित करें। इसके मार्ग मे ऐसे वृक्ष हों जो अपनी सघन और शीतल छाया से सूर्यतापजनित थकान को दूर करें तथा इसे मार्ग की भूमि इतनी कोमल और सुखद प्रतीत हो मानो उस पर कमल का पराग बिछा हुआ हो। (इस चौपाई में उत्प्रेक्षा तथा पुनरुक्तिप्रकाश नामक अलकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।)

(९२) शकुन्तला की विदा के समय आश्रम में सर्वत्र शोक का वातावरण देख कर प्रियवदा ने उससे कहा—आश्रम के हरिण इतने दुखी हैं कि मुँह मे घास नहीं ले रहे, मोरों ने नृत्य करना छोड दिया है और लताएँ अश्रु-रूप

दुष्यन्त को मेरा यह सन्देश देना—हमे सज्जन तपस्वी मानकर, अपने प्रतिष्ठित वंश की मर्यादा को देख कर, तथा हमारे उपाय के बिना ही शकुन्तला की अपने प्रति स्वाभाविक प्रीति को देख कर तुम्हारे लिये यही उचित होगा कि तुम उसे अन्य रानियों की भाँति अच्छी प्रकार से रखना। यदि इसके भाग्य में अन्य रानियों की अपेक्षा अधिक मान-सम्मान होगा तो यह उसे भी प्राप्त करेगी, किन्तु यह बात वधू के सम्बन्धियों द्वारा कहने योग्य नहीं है। (तात्पर्य यह कि हम केवल यह चाहते हैं कि तुम इसे सबके समान रखो। तुम्हारा अधिक प्रेम तो यह अपने भाग्य के अनुसार प्राप्त करेगी, इस सम्बन्ध मे हम कुछ नही कहते।)

(९८) कण्व मुनि शकुन्तला को गार्हस्थ्य धर्म के सम्बन्ध मे उपदेश दे रहे हैं—हे पुत्री ! ससुराल में गुरुजनो की सेवा करना और सौतेली रानियों से ईर्ष्या न करके उन्हे सखी समझना। यदि तेरे पति तुझे अपमानित भी करें तो भी क्रोधोन्माद मे मान न करना, राजमहल की परिचारिकाओं से मधुर व्यवहार करना और राजवधू होने का अभिमान न करना। ऐसा आचरण करने वाली नारी सद्गृहिणी का पद पाती है तथा इसके विपरीत आचरण करने से वह कुल की प्रतिष्ठा के लिए कलक बन जाती है। (इन चौपाइयो मे गृहस्थ-धर्म अथवा लोक-रीति को उपदेशात्मक शैली मे सहज अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।)

(९९) कण्व मुनि शकुन्तला को सान्त्वना दे रहे हैं—हे पुत्री ! यहाँ से जा कर अब तू उच्चवंशीय यशस्वी राजा दुष्यन्त की पत्नी के रूप मे साज-सज्जा (वैभव) के कामो से क्षण भर को भी अवकाश न पा सकेगी और पूर्व दिशि के पुन सूर्य जैसे उत्तम-प्रकृति पुत्र को जन्म देगी तब मुझसे बिछुड़ते समय की व्यथा को सर्वथा भूल जायेगी। (तात्पर्य यह कि नारी को पति-गृह जाना ही होता है और वहाँ सासारिक कार्यों मे व्यस्त होकर वह विदा-वेला को भूल जाती है। अत शकुन्तला को भी इतना सन्ताप नहीं करना चाहिए। इस सवैये मे तृतीय पक्तियो मे उपमा अलकार की मौलिक योजना की गई है।)

(१००) शकुन्तला द्वारा यह पूछने पर कि अब वह आश्रम मे पुनः कब आयेगी, कण्व मुनि ने उसे समझाया —दीर्घ काल तक राजा दुष्यन्त की

पत्नी के रूप में सुख भोग कर, चारों ओर समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी नामक सौतेली रानी के साथ निर्वाह करके (दुष्यन्त का पृथ्वी पर शासन है, अत वह उसकी पत्नी और शकुन्तला की सौत हुई), अपने उस शक्तिमान् पुत्र का जिसके रथ का मार्ग कोई भी न रोक सकेगा, विवाह करने के अनन्तर और उसे सिंहासन पर बैठा कर तथा परिवार का उत्तरदायित्व सौंप कर जब तेरा पति राज-कार्यों से विमुख होकर तुझे अपने साथ लेकर आएगा, तभी तू इस आश्रम में पुन प्रवेश कर सकेगी। (अर्थात् आश्रम गृहस्थियों के लिये नहीं, सन्यासियो के लिये होता है। अत वृद्धावस्था म वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने पर ही इसम पुन प्रवेश किया जा सकता है इससे पहले नहीं।)

(१०१) कण्व ने वियोगाकुल होकर शकुन्तला से कहा—हे पुत्री ! तूने पूजा म प्रयुक्त होने वाले जिन धान (नीवार) के पौधों को बोया था, अब वे पर्णकुटी क द्वार पर उग आए हैं अत इनके रहते हुए मैं तेरे वियोग की व्यथा को हृदय म धारण कर सकूँगा ? (भाव यह है कि जब तक मेरी कुटिया के सम्मुख ये धान के पौधे रहेंगे तब तक मुझे तेरा स्मरण करके सदैव सात्विक व्यथा होती रहेगी।)

(१०२) शकुन्तला को विदा करने के उपरान्त कण्व मुनि ने मन मे विचार किया—कन्या दूसरे की सम्पत्ति होती है अत आज शकुन्तला को उसके पति-गृह भेजकर मेरा हृदय इतना निमल अथवा चिन्ता मुक्त हो गया है मानो मैंने किसी की धरोहर सुरक्षित रूप मे लौटा दी हो।

(१०३) राजभवन मे बैठा हुआ दुष्यन्त रानी हसपादिका द्वारा अन्त पुर मे गाये जाने वाले गीत की ध्वनि सुन रहा है। हे भ्रमर ! तुम रसलोभी हो अर्थात रस की खोज में लीन रहते हो। सरस एव कोमल आम्र मजरी से तुम्हे अपूर्व प्रम था और उसक रसास्वाद क लिए तुम नित्य प्रसन्न भाव से नियमपूर्वक उसक पास जाते थे। किन्तु अब कमल क पास पहुँच कर तुम उस प्रिया से विरक्त क्यो हो गये हो ? उस प्रियतमा आम्र-मजरी से प्रम सम्बन्ध को सहसा कैसे भूल गए ? (इस गीत मे दुष्यन्त क अनकनिष्ठ प्रेम क प्रति व्यग्य किया गया है। उसकी अनेक रानियाँ थीं और नवीन प्रेम रस क आस्वाद के लिए उसने शकुन्तला से भी गन्धर्व विवाह कर लिया था।)

(१०४) हंसपदिका का गीत सुनकर दुष्यन्त उदास हो गया और इस उदासी के कारण पर विचार करने लगा—यदि किसी सुन्दर वस्तु को देखकर अथवा मधुर गीत को सुनकर सुखी (निश्चिन्त) व्यक्ति के हृदय में भी आवेग (व्याकुलता या उत्कण्ठा) हो जाए तो इसका यह कारण समझना चाहिए कि उसे जन्मजन्मान्तर के किसी ऐसे प्रिय व्यक्ति का स्मरण हो आया है जिस की सुधि अब तक प्रच्छन्न थी। अत मेरी उदासी का कारण भी किसी की स्मृति ही है ।

(१०५) इन चौपाइयो मे कचुकी अपनी वृद्धावस्था के विषय में सोच रहा है—इस लाठी को मैंने अपने पद की रीति समझ कर (अर्थात् 'कचुकी को हाथो मे लाठी रखनी ही चाहिए' ऐसा सोचकर) पूर्ववर्ती कचुकियों की भाँति राजा के अन्त पुर (राजगेह) की रक्षा के लिए ग्रहण किया था, इस धर्म का निर्वाह करते हुए तब से इतना समय बीत चुका है कि मेरे शरीर मे बुढापा आ गया है। अब मैं लडखडाते हुए पैरो से व्यथित भाव से चल पाता हूँ और यही लाठी मुझे आश्रय प्रदान करती है। (भाव यह है कि मैं इतना वृद्ध हो गया हूँ कि जिस लाठी से मैं अन्त पुर की रक्षा करता था, उसका आश्रय मुझे स्वय लेना पडता है।)

(१०६) कचुकी ने राजा के कर्त्तव्य-कर्म पर विचार करते हुए इन दोहा म इस भाव का प्रकट किया है—अपने रथ मे एक बार घोडे जोड लेने पर सूर्य न कभी विश्राम नही किया—अब तक निरन्तर चल रहा है। इसी प्रकार वायु भी निरन्तर प्रवहमान है। शेषनाग के शीश पर भी सदैव पृथ्वी का भार रहता है। प्रजा से आय का छठा भाग प्राप्त करने वाले राजाओ की भी यही रीति है अर्थात् उन्हे भी विश्राम नही मिलता ।

(१०७) राजा दुष्यन्त, जो विश्राम-भवन म थे, के विषय मे कचुकी की उक्ति है—प्रजा का सन्तान के समान पालन-पोषण करने से, कार्यभार से, जब मन थक जाता है तब राजा को विश्राम के लिए एकात स्थान की खोज रहती है जहाँ कोई बाधा न डाल सके। उस समय उनकी अवस्था ऐसी होती है जैसे सब हाथियो को वन मे सुरक्षित स्थान पर ले जा कर, सूर्य की किरणो से सन्तप्त होकर गजराज शीतल छाया की खोज करता है। (इन दोहा में उदाहरण अलकार है।)

(१०८) दुष्यन्त ने राज धर्म की कठिनता की ओर संकेत करते हुए स्वगत कहा—राज्यादि मनोवांछित वस्तुओं की प्राप्ति से अभिलाषा तो पूर्ण हो जाती है किन्तु उस वस्तु की रक्षा की चिंता हृदय को सतत विकल करती रहती है। इसी प्रकार राज-पद की प्राप्ति को भी ऐसा समझना चाहिए जैसे हाथ में छतरी (छत्र) धारण की हुई हो। (हाथ में रहने के कारण उसे थका कर) वह मनुष्य को पहले ही इतना कष्ट दे देती है कि बाद में छाया प्रदान करके भी उसे दूर नहीं कर पाती। इसी प्रकार राज्य प्राप्ति से भी सुख कम मिलता है और चिन्ताएँ अधिक विकल करती हैं।)

(१०९) दुष्यन्त का स्तव गान करते हुए एक चारण ने कहा—राजन! आप व्यक्तिगत सुखों के लिए व्यस्त नहीं रहते वरन प्रजा के हित के लिए ही दुःख सहन करते हैं। राजवंशों की परम्परागत रीति यही है आप इसका निर्वाह सदैव करते रहे। जिस प्रकार वृक्ष यात्री को अपनी छाया में विश्राम प्रदान करके स्वयं वर्षा, शीत और ग्रीष्म (के प्रहारों) को सहन करता है इसी प्रकार राजा का धर्म भी परोपकार है।

(११०) दुष्यन्त की स्तुति करते हुए दूसरे चारण ने कहा—दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्तियों को वशीभूत करने के लिए जब आप दण्ड नियम आदि प्रचंड उपायों का आश्रय लेते हैं तब आप मर्यादा विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्तियों को भलीभाँति दंडित करते हैं। आप कलह आदि दुःखों का समूल नाश करके प्रजा का पालन करते हैं। जिन कार्यों को पूर्ण करने के लिए (पृथ्वी पर) राजा का जन्म होता है आप उन राज धर्मों का भलीभाँति निर्वाह कर रहे हैं। हे राजा दुष्यन्त! (हमारी यह मंगल-कामना है कि) आप इसी प्रकार युवावस्था को धारण करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें और प्रजा की समस्त विघ्न बाधाओं को दूर करके उसे निर्भय बनायें। आपकी भाँति सम्पत्ति और ऐश्वर्य तो अन्य अनेक क्षत्रिय राजाओं के पास है किन्तु प्रजा केवल आप में ही अनुरक्त है। (प्रजा का यह अनुराग अन्य राजाओं में आप की श्रेष्ठता को सूचित करता है।) इसलिए आप प्रजा के प्रति बन्धु भाव रखते हुए सबका सम्मान करते हैं। तथा किसी को दुःख नहीं पहुँचाते। (यहाँ क्रमशः छप्पय, दोहा और सोरठा छंद हैं।)

(१११) प्रस्तुत सवैये में राजा दुष्यन्त कण्व द्वारा भेजे गये ऋषियों के विषय में सोच रहे हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रमवासी तपस्वियो के यज्ञादि धर्म-कार्यों मे (किसी के उत्पात के फलस्वरूप) बाधा उत्पन्न हो गई है, जिससे त्रस्त होकर ये तपस्वी मेरी सहायता लेने के लिए यहाँ आए हैं। अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि वन में उन्मुक्त भाव से विचरण करने वाले निरीह पशु-पक्षियों को कोई दुष्ट सता रहा है, अतः उन मूक जीवों की रक्षा की याचना के लिए ये ऋषि इधर आए हैं। इनके सहसा आगमन का एक कारण यह भी हो सकता है कि मेरे किन्ही दुष्कर्मों के फलस्वरूप वन-वेलियों के विकास अथवा पुष्पित होने मे बाधा आ रही हो और ये ऋषि मुझे सजग करने आए हो। इन शकाओ ने मुझे अधीर कर दिया है और मैं ऋषियों के आगमन का प्रयोजन जानने के लिए विकल हू। (राजा से यह अपेक्षा की जाती है कि उसके साम्राज्य मे कोई भी प्राणी दु खी न हो। इस उक्ति मे दुष्यन्त की विकलता का यही हेतु है।)

(११२) शारङ्गरव ने राजा दुष्यन्त के विषय मे शारद्वत से कहा—यह राजा अत्यन्त भाग्यशाली है। इसकी मर्यादा (यश) स्थिर है और यह धार्मिक कार्यों मे रुचिपूर्वक भाग लेता है। इसकी प्रजा मे नीच व्यक्ति भी दुर्बुद्धिवश कुमार्ग का अनुसरण नही करते अर्थात् इसके भय से आतङ्कित होकर सभी प्राणी सुमार्ग पर चलते हैं। मैं अब तक आश्रम मे एकात मे रहा हू अतः राजमहल के वैभव और राजा के सभादिक (मन्त्री आदि) की भीड मुझे अच्छी नही लग रही। मनुष्यो से भरा हुआ यह राज-प्रासाद मुझे ऐसा लग रहा है जैसे अग्नि से जलता हुआ घर हो।

छन्द चौपाई, अलकार: उपमा

(११३) शारद्वत ने शारङ्गरव के कथन की पुष्टि करते हुए कहा—सुख एव ऐश्वर्य के आकाक्षी इन नागरिको को देखकर मन मे कुछ इस प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं जैसे किसी स्नान-शुद्ध व्यक्ति ने मलिन मनुष्य को देख लिया हो। निर्मल हृदय वाला व्यक्ति पापी (अशुद्ध) को, जगा हुआ व्यक्ति शयन करते हुए को, या स्वच्छन्द विचरण करने वाला मनुष्य बँधे हुए व्यक्ति को देखकर जिस भाव का अनुभव करता है, मेरे मन मे इन नागरिको के प्रति वैसे ही भाव हैं।

(११४) शारङ्गरव की उक्ति है कि वृक्ष फल आने पर, बादल जल धारण करने पर और सज्जन सम्पत्ति पाकर झुक जाते हैं अर्थात विनम्र हो जाते हैं। परोपकार (परकाजि) करने वालों का यही स्वभाव है।

(११५) ऋषि-कुमारों के साथ शकुन्तला को देख कर राजा दुष्यन्त ने मन में विचार किया—अचल मे मुख को छिपाये हुए यह कौन नवयुवती खड़ी है, जिसका मधुर सौन्दर्य आवरण के कारण सहज-प्रत्यक्ष नहीं हो पा रहा। तपस्वियों के मध्य यह ऐसी प्रतीत हो रही है मानो पीले पत्तो (वल्कल-वस्त्रधारी तपस्वियों) के मध्य नवीन कोपल उग आई हो।

छन्द दोहा, अलकर उत्प्रेक्षा, अनुप्रास

(११६) दुष्यन्त द्वारा आश्रमवासियों की कुशलता के विषय में प्रश्न करने पर शारङ्गरव उत्तर दिया—हे राजन ! जब तक आप प्रजा-रक्षण में दत्तचित्त हैं तब तक मुनियो के धार्मिक कृत्यों मे किसी प्रकार का विघ्न नही पड सकता अर्थात् आपके भय से कोई भी तप मे बाधा नही पहुँचा सकता। जब तक ससार मे सूय का प्रकाश है तब तक पृथ्वी पर अन्धकार का साम्राज्य असम्भव है। इसी प्रकार आप जैसे रक्षक को पाकर हम निश्चिन्त हैं।

(११७) इन दोहों मे शारङ्गरव ने कण्व मुनि का सदेश व्यक्त किया है—हे राजन ! हम तुम्हे सज्जनों म सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। शकुन्तला भी ऐसी सर्वगुण सम्पन्न है मानो जगत की उत्तम क्रियाओं (गुणो) ने ही रूप धारण किया हो। इस प्रकार के समान गुणयुक्त तुम दोनों का विवाह कराके विधाता ने, विलम्ब से ही सही, अपने दोष का मार्जन कर लिया है। (प्रसिद्ध है कि विधिवश प्राय विपरीतगुण युवक-युवतियों का सयोग हो जाता है, अत दुष्यन्त शकुन्तला जैसे समानगुण वर-वधू का परिणय करा के विधाता ने उचित ही किया है।)

(११८) गौतमी ने दुष्यन्त से कहा—गन्धर्व विवाह से पूर्व न तो शकुन्तला ने गुरुजनो की आज्ञा प्राप्त की और न ही तुमने सम्बन्धियों से इस विषय मे परामर्श किया। अत अब तुम दोनों (उस पूर्व-प्रेम का निर्वाह करते हुए) परस्पर वार्तालाप करो।

(११९) दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को न पहचानने पर शारङ्गरव ने कहा— यदि विवाहिता स्त्री (विवाह के उपरान्त) पितृ-गृह मे रहती है तो उसके द्वारा सतीत्व का पूर्ण निर्वाह होने पर भी समाज मे उसके विषय मे अप्रिय चर्चा होने लगती है। लोकापवाद से बचने के लिए विवाहिता स्त्री के सम्बन्धी यही चाहते हैं कि वह सदैव पति-गृह मे रहे। पति का प्रेम प्राप्त न होने पर भी पतिव्रता स्त्रियाँ उनके पास रह कर प्रसन्न रहती हैं।

(१२०) शकुन्तला के रूप दर्शन से अभिभूत दुष्यन्त ने असमजस-पूर्वक विचार किया—इस लावण्यमयी युवती को दृष्टि (भेंट) के सम्मुख देख कर मैं इस सशय मे पडा हुआ हूँ कि मैंने इसका कभी वरण किया था अथवा नही ? इस सशय के कारण मैं न तो इसे (सार्वजनिक रूप मे) स्वीकार कर सकता हूँ और न ही इसे छोड सकता हूँ। इस समय मेरी स्थिति वैसी ही है जैसे प्रात काल के समय ओसयुक्त कुन्द पुष्प को देखकर भ्रमर की होती है। वह न तो उसका रसपान कर सकता है और न ही लोभवश उसे छोड कर अन्यत्र जा सकता है।

(१२१) शारङ्गरव ने दुष्यन्त को समझाते हुए कहा—जिस कण्व मुनि की कन्या से तुमने छलपूर्वक प्रेम करके अनैतिक आचरण किया और इसका ज्ञान होने पर जिस मुनि ने बुरा न मान कर तुम्हारे प्रम को मान्यता देकर तुम्हें इस प्रकार सम्मानित किया जैसे कोई चुराई हुई वस्तु चोर को ही लौटा कर उसे उसका स्वामी बना दे, वह मुनि तुम्हारी ओर से ऐसे तिरस्कार के योग्य नही है। हे भूपति ! तुम तनिक अपने मन मे विचार करके देखो कि क्या तुमने शकुन्तला को अस्वीकार करके उचित किया है ?

छद चौपाई, अलकार उदाहरण

(१२२) शकुन्तला द्वारा पूर्व प्रेम का स्मरण दिलाने का प्रयास करने पर राजा दुष्यन्त ने कहा—हे नायिका श्रेष्ठ पद्मिनी ! मैं तुझसे यह पूछता हू कि ऐसी मिथ्या बातें करके तू मुझे और मेरे वश को कलकित क्यो करना चाहती है ? (सम्भवत तू नही जानती कि) जो नदी अपने तट को छोड कर, मर्यादारहित होकर, तटवर्ती वृक्षो को गिरा देती है, वह उनके फलस्वरूप बहने वाली मिट्टी से जल को दूषित करके अपने सौन्दर्य को स्वय

क्षीण करती है। (इसी प्रकार तू मुझे कलंकित करने का प्रयास करके अपने दोष को प्रगट कर रही है।)

(१२३) दुष्यन्त गौतमी से कहता है—यह सर्वप्रसिद्ध है कि किसी के सिखाये बिना भी स्त्रियों में चतुराई होती है। (अर्थात् वे पुरुषों से छल करना जानती हैं।) केवल स्त्रियों में ही नहीं, पशु-पक्षियों में भी यही चतुराई देखी जाती है। कोयल अपने बच्चों को तब तक छलपूर्वक दूसरों से पलवाती रहती है जब तक वे उड़ने योग्य न हो जाएँ। (कारण सहित भाव-वर्णन होने के कारण यहाँ काव्यलिंग अलंकार है।)

(१२४) शकुन्तला का क्रोध देखकर दुष्यन्त ने मन में विचार किया—इसके प्रति अपने प्रेम का स्मरण होने पर जब मैंने व्यथित अथवा क्षुब्ध होकर बार बार यह अस्वीकार किया कि हमारा कभी एकान्त में प्रेम-सम्बन्ध हुआ था तब इसके नेत्र क्रोध से लाल हो गए और इसने भौंहें चढ़ा कर इस प्रकार देखा मानो क्रोधावश में इसने कामदेव के धनुष को ही तोड़ दिया हो! (अत इसके सात्विक क्रोध से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मैंने इससे अवश्य ही प्रेम किया होगा।)

छन्द, दोहा, अलंकार उत्प्रेक्षा।

(१२५) शारङ्गरव ने कहा कि परस्पर पूर्व-परिचय के अभाव में ऐकान्तिक प्रेम उचित नहीं होता। प्रेम सम्बन्ध की स्थापना में अन्धे की भाँति आचरण नहीं करना चाहिए अर्थात् प्रणय पात्र को भलीभाँति देख लेना चाहिए। एक दूसरे के मन के मर्म को जाने बिना जो प्रेम किया जाता है वह कुछ समय पश्चात इसी प्रकार (अर्थात् जिस प्रकार शकुन्तला से साथ हुआ है) वैर का रूप धारण कर लेता है।

(१२६) जब राजा दुष्यन्त ने सरल-हृदया शकुन्तला के वचन को मिथ्या कहा तब शारङ्गरव ने व्यंग्यपूर्वक कहा—जिस व्यक्ति ने जन्म से लेकर कभी भी धूर्ततापूर्ण आचरण करना नहीं जाना उसकी बात का विश्वास नहीं करना चाहिए और जो दूसरों को धोखा देना विद्या समझ कर सीखते हैं, उन्हें सदैव सत्य बोलने वाला विद्वान् मानना चाहिए।

(१२७) शारद्वत ने दुष्यन्त से कहा—हे नृपति! (तू इसे स्वीकार न

करने का चाहे कितना ही उपक्रम कर, किन्तु) यह शकुन्तला तेरी पत्नी है और तू इसका पति है। पति होने के नाते तुझे इसे अपने पास रखने या छोड देने का पूरा अधिकार है, अत हम जा रहे हैं।

(१२८) आश्रम की ओर लौटते समय शारङ्गरव ने दुखी शकुन्तला से कहा—हे शकुन्तले ! यदि तू वैसी ही (मिथ्यावादिनी) है जैसा राजा दुष्यन्त बता रहे हैं, तो ससार मे तुझे पतिता ही माना जायेगा और कुल मर्यादा का उल्लघन करने के कारण पिता कण्व के पवित्र आश्रममे भी तुझे प्रवेश न मिल सकेगा और यदि तू मन मे यह सोचती है कि तू सर्वथा निर्दोष है, तो तू पति-गृह मे दासी के रूप मे रहकर भी शोभा पाएगी।

(१२९) शकुन्तला को छोडकर जाते हुए ऋषि-कुमारो से दुष्यन्त ने कहा—चन्द्रमा केवल कुमुदनियो को ही जगाता है (अर्थात् उन्ही से प्रेम-क्रीडा करता है) और सूर्य कवल कमलिनियो को आनद देता है। इसी प्रकार जितेन्द्रिय (यती) व्यक्ति (अपनी पत्नी के अतिरिक्त) किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्त नहीं होते। (सामान्य का विशेष से समर्थन होने के कारण यहाँ 'अर्थान्तर न्यास' अलकार है।)

(१३०) सशयग्रस्त राजा दुष्यन्त ने अपने पुरोहित से कहा—या तो मैं ही बावला हो गया हूँ कि मुझे पूर्व प्रेम का स्मरण नही हो रहा अथवा यह नवयुवती ही मिथ्या भाषण कर रही है। अत हे राजपुरोहित ! ऐसे विवाद ग्रस्त प्रसग म तुम अपनी सम्मति दो कि यदि यह मेरी पत्नी है तो मैं इसका त्याग करके अपयश का भागी बनूँ अथवा इसे स्वीकार करके परनारी स्पर्श के दोष का भागी बनूँ ?

छद दोहा, अलकार सदेह, छेकानुप्रास।

(१३१) पुरोहित ने राजा दुष्यन्त से शकुन्तला के आकाश मार्ग मे उड जाने का वर्णन करते हुए कहा—वह अपने दुर्भाग्य की निन्दा करते हुए मेरे साथ चल रही थी। दुख के आवेग मे उसने बाँह फैला कर अतिशय रुदन किया और मन म विपुल व्यथा का अनुभव किया। तभी अप्सर तीर्थ के निकट पहुँचने पर न जाने किस ओर से एक अलौकिक ज्योति स्त्री रूपम वहाँ आई और उसे अपने साथ उडा ले गई।

(१३२) दुष्यन्त ने स्वगत विचार किया—यद्यपि मैंने मुनि-पुत्री शकुन्तला से हुए गन्धर्व विवाह का स्मरण न आने के कारण ही उसका त्याग किया है (अर्थात् इसमें मेरा दोष नहीं है), किंतु मेरा मन बारम्बार यही कह रहा है कि उस युवती का कथन सत्य था।

(१३३) कोतवाल द्वारा व्यंग्य करने पर धीवर कुम्भिलक ने अपनी आजीविका के समर्थन में कहा—विद्वान मनुष्य प्रायः यह कहते हैं कि कुल-परम्परा से चला आने वाला कार्य चाहे कितना ही क्षुद्र अथवा निन्द्य हो, उसे छोड़ना नहीं चाहिए। उदाहरणार्थ पशुओं की हत्या करना निर्दयतापूर्ण कार्य है, किंतु वेदज्ञ ब्राह्मण (श्रोत्रिय) बलि के निमित्त पशु-हत्या करते हैं और भी उनमें जाति-सुलभ सहज दया-ममता की भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। (अतः कर्म से ही किसी व्यक्ति को नीच या उच्च नहीं मानना चाहिए।)

छन्द : दोहा ; अलंकार : काव्यलिंग, छेकानुप्रास।

(१३४) आम्र-मंजरी को देखकर एक दासी ने वसन्त-श्री का वर्णन करते हुए कहा— हे आम्र-मंजरी ! तू अत्यन्त सरस है। तेरा वर्ण किंचित हरा, पीला तथा लालिमायुक्त है, अतः तू देखने में आकर्षक भी है। वसन्त के लिए तू ही सब कुछ है, यदि तू न हो तो उसकी शोभा समाप्त हो जाए। आम्र-वृक्ष की शोभा का मूल तू ही है। यहाँ आने पर मुझे अब सर्व प्रथम तेरे ही दर्शनों का सौभाग्य मिला है। मैं तुझसे अनुनय करती हूं कि तू इस वसन्त-ऋतु के लिए मंगलदायिनी बनने की चेष्टा करियो। (इन दोहों में प्रकृति का आलम्बन-रूप में चित्रण हुआ है।)

(१३५) हे आम्र-मंजरी ! मैं तुझे अपना शीश और मस्तक झुका कर यह कामना करती हूँ कि तू कामदेव, जिसने अभी धनुष धारण किया है, के पाँचों बाणों में सबसे तीक्ष्ण) बाण बेधकर प्रोषितपतिकाओं को विरह-पीडा प्रदान कर। (प्रेमी जनों को विकल करने वाले कामदेव के पाँच बाण प्रसिद्ध हैं— (अ) सम्मोहन, उन्मादन, स्तंभन, शोषण, तापन, (आ) अशोक, आम्रमंजरी, कुन्द, अरविन्द, नीलोत्पल।)

(१३६) इस सवैये में कंचुकी ने यह बताया है कि राजा दुष्यन्त द्वारा वसन्तोत्सव न मनाने का आदेश देने के कारण वन में सर्वत्र उदासी छाई हुई है —आम्र-वृक्षों में मंजरियों को लगे हुए अनेक दिवस व्यतीत हो चुके हैं,

किन्तु इनमे अभी तक पराग नही आ पाया है - कुरुविका (द्रोण पुष्पी) ने पौधे मे भी तो कलियाँ आ चुकी हैं, पर उनका भली भाँति विकास नही हुआ है। कोयल भी अवरुद्ध कण्ठ से कुञ्जन कर रही है। शीत ऋतु के उपरान्त वसन्त के आगमन के कारण यद्यपि उसे आनन्दमग्न होकर मधुर स्वर मे कूजन करना चाहिए था, किन्तु उसकी नीरस कूक से ऐसा लगता है मानो अभी वसन्त का आगमन हुआ ही नहीं है। सम्भवत प्रभावशाली कामदेव ने भी राजा दुष्यन्त द्वारा वसन्तोत्सव निषेध से भ्रस्त होकर तूणीर से आधे बाहर निकाले हुए बाणो को पुन उसी मे रख दिया है।

(१००) धीवर से प्राप्त हुई अगूठी को देखने पर शकुन्तला का स्मरण हो आने से दुष्यन्त की जो मनोदशा हुई, उसका वर्णन कचुकी की इस उक्ति मे हुआ है—अब राजा को सुख अथवा विश्राम की सामग्री रुचिकर प्रतीत नहीं होती। मन्त्री भी अब उसके निकट नही आते, क्योकि शकुन्तला की स्मृति मे विह्वल राजा को राज कार्य की बातें रुचिकर नही लगती। अब वह उदास होकर शैया के एक किनारे पर लेटा हुआ करवटें ही बदलता रहता है। विह्वलता के कारण उसे नींद नही आती और वह रात्रिपर्यन्त जागता ही रहता है। इस दुख के फलस्वरूप वह अन्त पुर मे अन्य रानियो से अत्यन्त शिष्ट और सयत शब्दों मे वार्तालाप करता है किन्तु मन मे शकुन्तला की स्मृति के फलस्वरूप उन रानियो का नाम लेने मे भी भूल करके वह उन्हे भी शकुन्तला कह बैठता है और तब उसे मन ही मन लज्जित होकर चुप हो जाना पड़ता है।

(१३८) प्रस्तुत घनाक्षरी छन्द मे कचुकी ने दुष्यन्त की विरहजनित अवस्था का चित्रण किया है—राजा दुष्यन्त ने आभूषण त्याग दिए है, सौदर्य प्रसाधनो का उपयोग छोड दिया है और बायें हाथ मे नाम मात्र को एक ककण धारण किया हुआ है। विरहाग्नि से तप्त श्वासो के फलस्वरूप उनके होठो का सौदर्य क्षीण हो गया है। चिन्तातुर होने के कारण उन्हे नींद नही आती और रात्रि जागते हुए ही बीत जाती है। निद्रा न आने के कारण उनके नेत्र लाल हो गए है। (इस प्रकार विरह के कारण उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई है।) किन्तु स्वाभाविक तेज के कारण राजा रा

शरीर दुर्बल होने पर भी सुन्दर दिखाई दे रहा है। क्षीण होने पर भी वह इस प्रकार देदीप्यमान है जैसे सान पर चढा कर खरादा हुआ हीरा। (हीरा अपनी सामान्य अवस्था मे साधारण पत्थर के समान होता है, किन्तु सान पर चढाए जाने पर उसे जितना अधिक काटा-छाँटा जाता है उतना ही वह निखर उठता है।)

(१३९) राजा दुष्यन्त ने पश्चात्तापपूर्वक स्वगत कहा—हरिणी के नेत्रों के समान चचल और विशाल नयनो वाली शकुन्तला ने जब अपने प्रेम-सम्बन्ध का स्मरण कराया था उस समय दुर्भाग्यवश मैं उसकी बात पर विश्वास करके उसे पहचानने मे असमर्थ रहा। किंतु, मेरा यह पापी हृदय अब सजग होकर (अगूठी देख कर) पश्चात्ताप के दुःख का अनुभव कर रहा है।

(१४०) राजा दुष्यन्त अपने मित्र माढव्य से अपनी काम-सतप्त अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मुनि-पुत्री शकुन्तला के साथ हुए गधर्व-विवाह की स्मृति को नष्ट करने वाला मेरे मन का अज्ञान-रूपी अधकार अभी-अभी दूर हुआ है। अर्थात् अभी-अभी (अगूठी को देखकर) मुझे सुधि आई है कि मैंने शकुन्तला से प्रेम-विवाह किया था। उसका स्मरण आते ही कामदेव मुझे पीडित करने के लिए धनुष ले कर आ गया है और आम्र-मजरी के बाण द्वारा मुझ पर प्रहार करने को उद्यत है। (कामदेव के पाँच बाणो मे आम्र-मजरी को सबसे तीक्ष्ण बाण माना गया है। राजा दुष्यन्त भी आम्र-मजरी को देख कर काम सतप्त हो गये हैं।)

(१४१) इन दोहों मे राजा दुष्यन्त ने अपने मित्र माढव्य से परित्यक्ता शकुन्तला की दयनीय दशा का वर्णन किया है—जब मैंने शकुन्तला के कथन पर अविश्वास करके उसे स्वीकार नहीं किया तब वह अबला विवश भाव से ऋषि-पुत्रों के साथ वापिस जाने लगी, किंतु उनमें से एक ऋषि-पुत्र ने उसे धमकाते हुए कहा कि तू यहीं ठहर। उसके आदेश को पिता की आज्ञा के समान शिरोधार्य करके वह रुक गई और करुणापूर्ण एव सजल नेत्रों से उसने मेरी ओर देखा। उसकी यह असहाय अवस्था मेरे निष्ठुर हृदय को इस प्रकार पीडित कर रही है मानो किसी विषाक्त बाण की नोक चुभ गई हो।

(१४२) दुष्यन्त ने अपने सखा माढव्य से कहा—मुझे ऐसा लगता है कि मेरा और शकुन्तला का प्रेम या तो स्वप्न था, या मूर्छा अथवा माया-जाल था। जिस प्रकार ये तीनों सत्य नही होते, कुछ समय बाद इनकी सत्ता मिट जाती है, उसी प्रकार शकुन्तला भी आज मेरे पास नही रही। सम्भवत यह मेरे सञ्चित पुण्यों का फल है जो प्रकट होकर अचानक ही विलीन भी हो गया है। (तात्पर्य यह है कि शकुन्तला-जैसी सुन्दरी की प्राप्ति, मुझे अपने पुण्य के कारण नही हुई। यदि उसकी प्राप्ति पुण्य के फल-रूप में होती तो दुर्दैव उसे मुझसे अलग न करता।) अब मुझे शकुन्तला के रूप में प्राप्त उस सुख की पुन प्राप्ति की आशा बिल्कुल नही रही। ऐसा लगता है कि मेरे मनोरथ किसी गहरे गर्त मे गिर गये हैं—जहा से अब वे पुन नही निकल सकते। अर्थात् मुझे अब अपने पुण्यों के बल पर शकुन्तला की प्राप्ति नही होगी।

(१४३) दुष्यन्त ने विरह सतप्त होकर अगूठी को सम्बोधित करते हुए कहा—हे मुद्रिके ? तेरे पूर्व-कर्मों का पुण्य भी मेरे कर्मों के समान ही हीन है। आज मुझे निश्चय हो गया है कि कर्मों की दुर्बलता और सबलता का निर्णय उनके द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर ही किया जा सकता है। तू शकुन्तला की कोमल उगलियों के मनोहारी अरुण नाखूनों का सानिध्य प्राप्त करके भी उस समय पुन पृथ्वी पर आ गिरी जब तेरे पुण्य की शक्ति समाप्ति हो गई। (तात्पर्य यह है कि जब तक तेरे कर्म प्रबल थे तब तक तुझे शकुन्तला के पास रहने का अवसर मिला, तदुपरान्त तुझे पृथ्वी पर गिरना पड़ा।)

(१४४) दुष्यन्त ने अपने अन्तरग सखा माढव्य से कहा—आश्रम से विदा होते समय मैंने शकुन्तला को अपनी अगूठी देकर कहा था कि हे प्रिये ! तुम इस अगूठी मे अकित मेरे नाम के अक्षरों मे से प्रत्येक दिन एक अक्षर की गणना करना। इस प्रकार गणना करते हुए जब अक्षरान्त का दिन आ जाए तब तुम समझना कि उस दिन मेरे अन्त पुर से तुम्हे लेने के लिए कोई-न-कोई अवश्य ही आएगा।

(१४५) दुष्यन्त ने विरह-विह्वल होकर कहा—हे मुद्रिके ! तूने ऐसा

(१५२) दुष्यन्त ने भ्रमर से पुनः कहा—प्रियतमा शकुन्तला के बिम्बाफल के समान रक्तिम अधर नवीन पल्लव की भाँति अत्यन्त कोमल हैं। उपवन में रतिक्रीड़ा करते समय मैंने धीरे-धीरे आनन्दपूर्वक उन अधरों का रस पान किया था। हे भ्रमर ! यदि तू उन अधरों के स्पर्श का तनिक भी दुस्साहस करेगा तो मैं तुझे कमल-कोष (उदर) रूपी बन्दीगृह में बन्द कर दूँगा।

छन्द : शिखरिणी ; अलंकार : उपमा।

(१५३) दुष्यन्त ने माढव्य से कहा—मैं एकाग्रचित्त होकर चित्र में शकुन्तला के साक्षात् दर्शन का आनन्द प्राप्त कर रहा था। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि शकुन्तला ही मेरे सम्मुख खड़ी हुई है। हे मित्र ! ऐसी आनंदपूर्ण अवस्था में तुमने मुझे व्यर्थ ही यह स्मरण दिला दिया कि यह शकुन्तला न होकर उसका चित्र-मात्र है। अतः अब मेरी प्रियतमा पुनः चित्र बनकर रह गई है।

(१५४) दुष्यन्त ने अपनी विरह व्यथा का वर्णन करते हुए माढव्य से कहा—शकुन्तला के विरह में अहर्निश जागरण के फलस्वरूप स्वप्नावस्था में भी उससे मिलन सुलभ नहीं है। उसके चित्र-दर्शन में भी मैं असमर्थ हूँ, क्योंकि मेरे नेत्र अश्रुओं से अभिषिक्त हैं। भाव यह है कि विरहाश्रुओं के फलस्वरूप दृष्टि धूमिल हो जाने से चित्र-दर्शन भी कठिन हो गया है।

(१५५) दुष्यन्त ने प्रतिहारी से कहा—मेरी प्रजा के जिन लोगों को अपने पाप के फलस्वरूप बन्धु-वियोग सहना पड़ा हो, उन्हें छोड़कर उन सब के प्रति मेरी सहानुभूति है जिन्हें विधिवश अपने बन्धुओं से वियुक्त होना पड़ा है। अतः तुम और कुछ न कहकर, नगर में यह सूचना प्रचारित करा दो कि ऐसे व्यक्ति निराश न होकर राजा दुष्यन्त को ही अपने प्रिय का स्थानापन्न समझें। (भाव यह है कि मैं उनकी हर प्रकार से सहायता करूँगा।)

(१५६) शकुन्तला के विरह में राजा दुष्यन्त की पश्चातापपूर्ण उक्ति है—मैंने अपने वंश की प्रतिष्ठा-स्वरूपिणी उस निष्कलंक पत्नी का परित्याग किया है, जिसके गर्भ में (पुत्र-रूप में जन्म लेने के लिए) मैं स्वयं ही बीज-रूप में स्थित था। शकुन्तला के प्रति मेरी यह उपेक्षा वैसी ही है जैसे किसी कृषक

ने उपयुक्त समझ कर पृथ्वी मे बीज-वपन किया हो और उन बीजों मे अंकुरित तथा फलयुक्त होने की ऋतु आने पर उस पृथ्वी का स्वामित्व ही छोड़ दिया हो।

छन्द : दोहा ; अलकार : उत्प्रेक्षा ।

(१५७) दुष्यन्त ने स्वगत कहा—मेरे पूर्वज इस संशय में पड़े हुए होगे कि दुष्यन्त के बाद हमारे कुल मे ऐसा कौन होगा जो विधिपूर्वक पिंडदान करके हमारा तर्पण करेगा। मैं पुत्रहीन हूँ और इस समय मेरे द्वारा अर्पित जल ही उन्हे प्राप्त होता है, किंतु उक्त दुःख के फलस्वरूप वे केवल उतना ही जल ग्रहण कर पाते होगे जो आँसू पोंछने और हाथ धोने के बाद बचा रहता होगा।

(१५८) नेपथ्य मे माढव्य का करुण क्रदन सुनकर दुष्यन्त ने कहा—कभी-कभी मनुष्य अपने पग अथवा कार्य के मर्म से स्वय ही अनजान रहता है, फलतः सावधानी से न चलने के कारण वह प्रायः नित्य ही ठोकर खाया करता है। (तात्पर्य यह है कि मनुष्य यह नही जान पाता कि वह अनायास ही कौन सा पाप कर बैठता है, जिसके कारण उसे असफलता मिलती है) इस अवस्था मे मैं दूसरों के अर्थात् प्रजाजनो के विषय मे यह कैसे जान सकता हू कि वे सन्मार्ग अथवा कुमार्ग मे से कौनसे मार्ग पर चल रहे हैं? प्राय. यह माना जाता है कि देश मे पाप की अधिकता होने पर ही प्रजाजनो को अनायास कष्ट भोगने पडते हैं। इसीलिए माढव्य को संकटग्रस्त देखकर दुष्यन्त को चिंता हुई कि सम्भवत उसकी प्रजा मे कोई वर्ग कुमार्ग पर चल रहा होगा।)

(१५९) प्रस्तुत दोहा मे माढव्य के प्रति (दैत्य-रूपी) मातलि का वीभत्सरसपूर्ण वचन है—मैं तेरे कण्ठ के सद्य रुधिर का प्यासा हूँ, अत तुझे उसी प्रकार व्याकुल करके मारूँगा जिस प्रकार वन का राजा सिंह किसी पशु को मारता है। वह दुष्यन्त अब कहाँ गया जो अपनी प्रजा को अभयदान देने के लिए दुष्टों के संहार के निमित्त धनुष पर तुरन्त ही बाण चढा लेता है। (तात्पर्य यह कि यदि दुष्यन्त का इतना यश है तो वह तुझे बन्धन से मुक्त कराने के लिए प्रकट क्यो नही हो रहा?)

(१६०) दुष्यन्त ने मायाजाल के कारण अदृश्य मातलि को चुनौती देते

हुए कहा—मेरा बाण तेरे-जैसे पापी को मार कर ब्राह्मण माढव्य की उसी प्रकार रक्षा करेगा जिस प्रकार हंस पानी में से दूध को निकाल लेता है (इस श्लोक में 'उदाहरण' अलंकार की योजना की गई है।)

(१६१) मातलि ने माया-वेश त्याग कर दुष्यन्त से कहा—हे राजन्! इन्द्र ने तेरे अस्त्रों के लिए (लक्ष्य के रूप में) राक्षसों को बताया है। अतः तू (उन्हें मारने के लिए) उनके प्रति अपने धनुष का सन्धान क्यों नहीं करता? सज्जन व्यथित मित्रों पर तीक्ष्ण बाण नहीं चलाते, वरन् वे उन पर सदैव सुख प्रदान करने वाली प्रेमपूर्ण दृष्टि डालते हैं। (अतः तू भी मित्र स्वरूप मातलि का वध न करके राक्षसों का संहार कर।)

(१६२) इन्द्र द्वारा बुलाये जाने का कारण पूछने पर मातलि ने दुष्यन्त से कहा—कालनेमि राक्षस की कुल परम्परा में उत्पन्न दैत्य वंश पर विजय पाने में असमर्थ हो कर इन्द्र ने तुम्हें इसीलिए आमन्त्रित किया है कि युद्ध-क्षेत्र में देव सेना का संचालन करो और रिपु-वंश का नाश करो। जिस प्रकार रवि के अन्धकार को सूर्य विदीर्ण नहीं कर सकता, किन्तु चन्द्रमा के दर्शन मात्र से अंधकार अनायास ही तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार जिस दैत्य-वंश को इन्द्र पराजित नहीं कर सके, उसे तुम सरलतापूर्वक नष्ट कर दो। (इन दोहों में 'उदाहरण' अलंकार की योजना की गई है।)

(१६३) दुष्यन्त द्वारा मातलि से यह पूछने पर कि उसने माढव्य को पीड़ित क्यों किया, मातलि ने कहा—ईंधन को कुछ हिलाये बिना उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती। यदि सर्प को छेड़ा न जाए तो वह क्रुद्ध होकर अपने फण को नहीं उठाता। इसी प्रकार मनुष्य भी क्षुब्ध अथवा अपमानित हुए बिना अपने प्रभुत्व के प्रति सजग नहीं होता। प्रायः इन तीनों (अग्नि, सर्प एवं मनुष्य) का यही स्वभाव माना गया है। अतः तुम्हें उत्तेजित करने के लिए ही मैंने तुम्हारे मित्र माढव्य को कष्ट पहुँचाया था।

(१६४) दुष्यन्त ने माढव्य से कहा—तुम मेरी ओर से पिशुन मन्त्री से यह कह देना कि जब तक मेरा धनुष दैत्य-वध रूपी अन्य कार्य में प्रवृत्त है तब तक मेरी ओर से अपने बुद्धि-बल से प्रजा का पालन करें।

(१६५) मातलि ने दुष्यन्त और इन्द्र के विनयशील स्वभाव की प्रशंसा

करते हुए कहा—हे राजन् ! यद्यपि तुमने इन्द्र का इतना उपकार किया है, किंतु देवराज ने तुम्हारा जो सम्मान किया है, उसे देखकर तुम इस विषय में तनिक भी गर्व नहीं कर रहे हो। इसी प्रकार तुम्हारे शौर्य को देख कर इन्द्र अपने हृदय में चमत्कृत है और तुम्हारे प्रति अत्यधिक सम्मान प्रकट करके भी यही समझ रहा है कि तुम्हारे जैसे पराक्रमी के लिए इतना सम्मान कम है। इस प्रकार तुम दोनों एक-दूसरे को महत्व प्रदान कर रहे हो।

(१६६) इन चौपाइयों में दुष्यन्त ने इन्द्र की ओर से प्राप्त सम्मान का वर्णन किया है—मदार के पुष्पों से निर्मित चन्दनयुक्त जिस माला को प्राप्त करने की इच्छा से इन्द्र का पुत्र जयन्त उनके समीप ही खड़ा था, उस माला को उन्होंने, जयन्त की ओर स्मितपूर्वक देख कर तथा मेरी ओर कृपा-दृष्टि करके, स्वयं अपने हाथों से मेरे गले में डाल दिया। इस प्रकार (पुत्र की अपेक्षा मुझे माला प्रदान करके) उन्होंने मुझे अत्यधिक सम्मानित किया।

(१६७) मातलि ने राजा दुष्यन्त के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा—हे राजन ! इन्द्र-लोक को दानव-रूपी कंटकों के प्रभाव से मुक्त करने वाले केवल दो ही वीर हुए हैं—पहले भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से दानवों का विध्वंस किया था और अब तुम्हारे निर्दय बाणों ने वही कार्य किया है। ('दानव-कटक' में रूपक अलंकार है।)

(१६८) दुष्यन्त ने मातलि से कहा—जब सेवकों अर्थात् वशवर्ती जनों द्वारा किसी महत्वपूर्ण कार्य को सिद्ध किया जाए तो मन में यह समझ लेना चाहिए कि यह स्वामी की कृपा का फल है। इस विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए। यदि सूर्य अपने रथ में सारथी अरुण को आगे बैठने के लिए स्थान न दें तो उसमें (अरुण में) रात्रि के अंधकार का नाश करने की क्षमता कैसे आएगी ?

(१६९) मातलि ने देव-समुदाय का सार संकेत करके दुष्यन्त से कहा—देवताओं के प्रसाधन से बचे हुए विभिन्न रंगों (अर्थात् विभिन्न वर्णों की शृंगार-सामग्री) द्वारा कल्पवृक्ष के पत्र-रूपी वस्त्र पर ये देवता तुम्हारे चरित्र के विविध प्रसंगों को अंकित कर रहे हैं। तुम्हारे यशोगान के लिए मधुर गीतों की रचना के निमित्त ये ध्यानपूर्वक सरस पदों का विचार कर रहे हैं।

(१७०) जब दुष्यन्त ने मातलि से अपने गमन-मार्ग के विषय में प्रश्न किया तब मातलि ने उत्तर में कहा—इस मार्ग को भगवान् विष्णु ने वामनावतार में अपने द्वितीय चरण-न्यास द्वारा पवित्र किया था। इस मार्ग मे परिवह नामक पवन संचरित होती है जो आकाश में स्थित त्रिपथगा (आकाश-गंगा) को सदैव प्रवाहित रखती है और किरणों को यथास्थान विभक्त करके प्रकाश-पुंजों (सूर्य, चन्द्र आदि) को गतिशील बनाती है।

विशेष—पुराणों के अनुसार पृथ्वी और स्वर्ग के उच्चतम लोक तक आकाश सात भागों मे विभक्त है, जिनमें नीचे की ओर से क्रमशः आवह, प्रवाह, संवाह, उद्वह, विवाह, उरिवह तथा परिवह नामक पवन प्रवाहित होती हैं। दुष्यन्त इस समय स्वर्ग के सर्वोच्च स्थल इंद्रलोक—में है, अतः वहाँ 'परिवह' पवन का सचार है।

(१७१) दुष्यन्त ने वातावरण द्वारा मार्ग का अनुमान करके कहा—हमारे रथ-चक्रों की अराओ (पहियों में लगी हुई टेढ़ी लकड़ियों को 'अरा' कहते हैं) के माध्यम से हो कर चातक पक्षी इधर उधर जा रहे हैं, रथ के अश्वों के शरीर पर मेघ-मंडल मे उत्पन्न होने वाली विद्युत का प्रकाश पड रहा है और रथ-चक्र जल से भीग गए है। इस प्रकार रथ (के विभिन्न अंगों) की अवस्था से यह सकेतित है कि हम सजल मेघ-मण्डल के मार्ग में प्रविष्ट हो गए हैं।

(१७२) पृथ्वी-लोक दृष्टिगत होने पर दुष्यन्त ने मातलि से कहा—पर्वतों के उन्नत शिखरों के रूप मे ऊपर उठी हुई पृथ्वी अब नीचे उतरती हुई प्रतीत हो रही है। दूर से जो वृक्ष पत्तों मे आच्छादित दिखाई देते थे, अब उनके शाखा-रूपी स्कन्ध दिखाई देने लगे हैं। इसी प्रकार जो नदियाँ पहले शुष्क प्रतीत होती थी, अब उनमे जल दिखाई देने लगा है। पृथ्वी-लोक हमारे निकट आता हुआ ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो इसे किसी ने ऊपर की ओर उछाल दिया हो।

छन्द: चौपाई; अलंकार: उत्प्रेक्षा।

(१७३) हेमकूट पर्वत को—लक्षित करके मातलि ने दुष्यन्त से कहा—

इस स्थान पर स्वयभू (ब्रह्मा) के पौत्र (मूल दोहे मे पौत्र के स्थान पर नाती का प्रयोग अनुवादक की भूल से हो गया है) मरीचि के पुत्र और (देवताओ तथा दानवो के पिता कश्यप नामक) प्रजापति अपनी पत्नी देव-माता (अदिति) के साथ तपस्या करते हैं।

(१७४) रथ को नि शब्द उतरते देख कर दुष्यन्त ने कहा — रथ-चक्रो मे तनिक भी ध्वनि नही निकली और न ही मुझे कही (रथ के भूमि पर उतरने से उत्पन्न) धूल दिखाई दे रही है। हे मातलि! तू जिस रथ का सचालन कर रहा है, उसका उतरना अथवा पृथ्वी का स्पर्श करना ज्ञात ही नही हो सका।

(१७५) कश्यप मुनि के आश्रम को लक्षित करके राजा दुष्यन्त के प्रति मातलि की उक्ति है—जिस स्थान पर सूर्य की ओर मुख किए हुए वह मुनि खडा है, जो स्थाणु (जड ठूँठ) की भाँति निश्चल है, जिसके शरीर के आधे भाग पर बाँबी (दीमको द्वारा एकत्रित मिट्टी) है, जिसने सर्प की केंचुली को वक्षस्थल से लिपटाया हुआ है, जिसने गले मे अर्ध-शुष्क लता को डाल कर मानो अ गो को पाश (मेली) से पीडित किया हुआ है और कन्धो तक फैले हुए जिसके जटा-समूह मे पक्षियो ने नीड बना लिए है,—वही कश्यप मुनि का लोक-प्रसिद्ध आश्रम है। (यहाँ मुनि की निरविकार तपस्या का चित्र शैली मे वर्णन किया गया है।)

(१७६) दुष्यन्त ने मुनिवर कश्यप के आश्रम के विषय मे मातलि से कहा—अन्य मुनिगण जहाँ पहुँचने के लिए तपस्या करते हैं, उसी पुण्य स्थल पर यहाँ के ये तपस्वी, इन्द्रियो की सभी वासनाओ की अवहेलना करके, तप-साधन मे लीन रहते हैं। यहाँ कल्पवृक्ष के कु ज की अनुपम वायु का सचार रहता है, जो साधना-वृत्ति के लिए सर्वथा अनुरूप है। यहाँ तपस्वियो को अपने कार्यों (सन्ध्या, पूजन) के लिए स्वर्णकमल के पराग से युक्त पीतकान्तिमय निर्मल जल सुलभ रहता है। यहाँ अनेक मणि-शिलाएँ बिछी हुई हैं, जिन पर बैठ कर तपस्वी हरि-स्मरण करते हैं। अप्सराओ के निकट रह कर भी यहाँ सयम की मर्यादा का भलीभाँति निर्वाह किया जाता है।

(१७७) कश्यप के आश्रम के निकट पहुँचने पर दुष्यन्त ने अपनी दाई

भुजा के फड़कने को शुभ चिह्न जान कर कहा—हे भुजे ! मुझे इस बात की तनिक भी आशा नहीं है कि इस आश्रम में पहुँचने पर मेरा मनोरथ (शकुन्तला-मिलन) अनायास ही सिद्ध हो जाएगा। फिर तू बारम्बार फड़क कर मुझे आशा क्यों दिला रही है, इससे व्यर्थ ही उपहास होगा। जब कोई व्यक्ति उपलब्ध सुख उसके लिए निश्चय ही दुःख के रूप में परिवर्तित हो जाता है। (भाव यह है कि शकुन्तला का तिरस्कार करने के फलस्वरूप मुझे केवल दुःख ही प्राप्त होंगे—मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं होगी।)

(१७८) दुष्यन्त ने बालक के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए स्वगत विचार किया—पशुराज सिंह का जो बच्चा अपनी माता सिंहनी के स्तनों से आधा दूध ही पी सका था, उसे यह पराक्रमी बालक खेलने के लिए बाल पकड़ कर निर्भय भाव से अपनी ओर खींच रहा है।

(१७९) दुष्यन्त ने उस बालक के विषय में पुनः विचार किया—यह बालक अत्यन्त तेजस्वी, शक्तिशाली और बुद्धिमान् प्रतीत होता है। सिंह-शावक के समक्ष यह ऐसे निर्भय भाव से खड़ा हुआ है जैसे ईंधन को प्राप्त करने के लिए अग्नि, (भाव यह है कि ईंधन डालने से जिस प्रकार अग्नि और भी प्रज्वलित हो कर अधिकाधिक सामग्री की अपेक्षा करती है, उसी प्रकार यह बालक भी निडर हो कर खड़ा हुआ है। इस दोहे में 'उदाहरण' अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।)

(१८०) दुष्यन्त ने बालक की हथेली पर चक्रवर्ती राजा के चिह्न देख कर स्वगत कहा—तपस्विनी से खिलौना लेने के लिए इसने ज्यों ही हाथ बढ़ाया त्यों ही इसकी जाल के समान परस्पर गुँथी हुई अंगुलियाँ दिखाई दीं। यह देख कर ऐसा प्रतीत हुआ मानो इसकी हथेली प्रातःकालीन सूर्य के उदय के परिणामस्वरूप खिले हुए ऐसे कमल के समान है जिसकी पंखुरियों के मध्य में तनिक भी अवकाश न हो। (इन दोहों में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।)

(१८१) आश्रम के बालक के प्रति मुग्ध हुए दुष्यन्त की वात्सल्यपूर्ण स्वगतोक्ति है—बालकों की अकारण मुस्कराहट से अनायास व्यक्त होने वाली दन्त-पंक्ति ऐसी प्रतीत होती है मानो लघु आकार वाली कलियों की पंक्ति ही प्रकट हो गई हो। जब वे कुछ कहना चाहते हैं तब (बोलने का

अभ्यास न होने के कारण) उनकी बात बीच में ही रह जाती है। उनकी वह तुतलाहट भरी वाणी बड़ी ही अनूठी और मधुर लगती है। उन्हें गोदी से सुखद कोई स्थान नहीं दिखता, इसी कारण वे आगन की कठोर भूमि को छोड़ कर गोदी में बैठने के लिए बार-बार दौड़ते हैं। वे मनुष्य भाग्यशाली हैं जो धूलि में खेलने वाले ऐसे चचल बालकों को गोदी (कनियाँ) में लेकर उनके वस्त्रादि में व्याप्त धूलि-कणों से अपने शरीर की शोभा बढ़ाते हैं। (यह घनाक्षरी छन्द है और इसमें उत्प्रेक्षा, अनुप्रास तथा पुनरुक्ति प्रकाश अलकारों की योजना की गई है।)

(१८२) दुष्यन्त ने तपस्विनी के अनुरोध पर बालक से कहा—हे ऋषि पुत्र ! आश्रम में रहने वाले तपस्वियों की पशुओं के प्रति स्वाभाविक प्रीति होती है। तूने सिंहशावक के केश खींच कर आश्रम धर्म के विपरीत आचरण करके इस परम्परा का त्याग क्यों किया है ? तू बाल्यावस्था से ही पशु पीड़न जैसे अकरणीय कर्म करने लगा है, जो तपस्वियों को किसी भी प्रकार शोभा नहीं देते। तूने इस कार्य से तपोवन को इस प्रकार दूषित कर दिया है जैसे काले साँप का बच्चा चन्दन के वृक्ष से लिपट कर अपने विष द्वारा उसे दूषित बना देता है।

छन्द चौपाई अलकार अनुप्रास व उदाहरण।

(१८३) प्रस्तुत दोहे में बालक के शौर्य और सौकुमार्य के प्रति राजा दुष्यन्त का आत्म कथन है—इस बालक का एक बार स्पर्श करने में ही मेरा तन मन आनन्दमय हो गया है। मैं यह नहीं जानता कि इसने किस वंश में जन्म लिया है किन्तु यह निश्चय है कि जिस सौभाग्यशालिनी माता के गर्भ से इसका जन्म हुआ है वह इसके सुन्दर अगों को देख कर उमगों में लीन हो जाती होगी।

(१८४) तपस्विनी द्वारा बालक को पुरुवंशी बताने पर दुष्यन्त ने स्वगत विचार किया—पृथ्वी वासियों का पालन करने के उद्देश्य से पुरुवंशी क्षत्रिय पहले तो सासारिक मनुष्यों की भाँति ऐसे राज-भवनों में निवास करते हैं जहाँ ऐश्वर्य के सभी साधन सुलभ हों, तदनन्तर वे वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने के लिए विषयोन्मुखी इन्द्रियों को सयमित करने का निश्चय

करते अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत करके वन मे वृक्षों की छाया के नीचे निवास करते हैं।

विशेष—तपोवन मे प्राय ब्राह्मण आदि ऋषि रहते हैं, पुरवशी बालक का वहाँ क्या काम ? इसी कारण दुष्यन्त ने मन मे विचार किया कि आश्रम मे कोई वानप्रस्थी पुरवशी तप करने आया होगा—यह बालक उसी का हो सकता है।

(१८५) कश्यप ऋषि के आश्रम मे विरह-दुर्बला शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने मन मे विचार किया—इतने दिन तक आश्रम के नियमों का पालन करने के कारण जिसके शरीर के अग क्षीण हो गए हैं, जिसने केवल एक ही वेणी धारण की हुई है और शरीर पर (स्वच्छ तथा धूलि-कणों के कारण) मलिन वस्त्र पहने हुए हैं, ऐसी यह शकुन्तला मुझ निर्दयी से प्रेम करके अब सुदीर्घ काल न एश्वर्य-सामग्रियों से विमुख हो कर विरह के कठिन व्रत का नारित्वनापूर्वक पालन कर रही है।

(१८६) दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा—पूर्व प्रेम का स्मरण हो आने से मेरा भ्रम दूर हो गया है और तुम से मिल कर मेरा हृदय भी पूरा हो गया है। मेरा सौभाग्य है कि आज मैं अपने सम्मुख सौन्दर्यमयी प्रेयसी को देख रहा हू। जिस प्रकार राहु द्वारा चन्द्र-ग्रहण की दशा समाप्त होने पर रोहिणी नक्षत्र का चन्द्रमा स पुनर्मिलन होता है इसी प्रकार मेरे दुष्यन्त ग्रहा का अन्त होने पर तुमसे मेरा पुनर्मिलन हो गया है।

विशेष—पुराणों मे रोहिणी को दक्ष की कन्या और चन्द्रमा की पत्नी माना गया है। क्रम की दृष्टि स यह सत्ताइस नक्षत्रों म चतुर्थ है और चन्द्रमा से इसका योग आषाढ़ क कृष्ण पक्ष म होता है।

(१८७) भावावेश म शकुन्तला के कण्ठावरोध का लक्षित करके दुष्यन्त ने कहा—हे शकुन्तले ! यद्यपि प्रेमाश्रुओं के प्रबल आवेग ने तेरी वाणी को कण्ठ म ही अवरुद्ध कर दिया है, किन्तु तू निश्चय समझ कि मैंने (तेरी भावनाओं का अनुमान करके) तेरे जय-जयकार रूपी अभिवादन को पा लिया है। मेरे लिए यही बहुत है कि मैंने तुम्हारे मृदु-मधुर सौन्दर्य के पुन दर्शन पाए हैं। तुम्हारा रूप इतना स्वाभाविक है कि लखौटा (एक प्रकार का सुगन्धित

लेप) न होने पर भी वह लावण्यमय है और अधरोष्ठ भी प्राकृत रूप मे अरुणिम हैं।

(१८८) दुष्यन्त ने शकुन्तला से पुन कहा—हे शकुन्तले! मैंने तेरी उपेक्षा करके जो अपमानित किया था, उसे तू भुला दे, क्योंकि उस क्षण मेरे मन मे (स्मृति-नाश के फलस्वरूप) अज्ञान की प्रबलता थी। सुख प्राप्त होने पर तमोगुण-प्रधान सांसारिकों की प्रायः ऐसी ही दशा हो जाती है जैसी कि मेरी हुई है। मेरे-जैसे तमोगुणी व्यक्ति प्राप्त सुख का इसी प्रकार तिरस्कार कर देते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति अपने गले मे डाली गई माला को सर्प समझ कर फेंक देता है।

छन्द दोहा, अलकार उदाहरण।

(१८९) प्रस्तुत दोहो मे दुष्यन्त शकुन्तला से कहता है कि उस दिन (परित्याग के समय) तेरे अधरो पर दुःखावेग के कारण जो अश्रु-बिन्दु गिर रहे थे, उन्हे मैंने अज्ञानवश देखा अनदेखा कर दिया था। किन्तु बाद मे परिज्ञान होने पर मैं निरन्तर पश्चाताप करता रहा हूँ। हे पद्मिनी नायिके! इस समय तुम्हारी पलको मे जो प्रेमाश्रु छाए हुए हैं उन्हें पोछ कर मैं उसी भूल का प्रायश्चित करना चाहता हूँ।

(१९०) कश्यप मुनि ने दुष्यन्त का परिचय देते हुए अपनी सहधर्मिणी अदिति से कहा—यह दुष्यन्त है, जो युद्धस्थल म तेरे पुत्र इन्द्र के आगे चलने वाला राजा है। इसका यश अपूर्व है क्योंकि इसके धनुष के पराक्रम के कारण इन्द्र के प्रसिद्ध वज्र ने युद्ध से विश्राम ले लिया है और अब वह अलकार-मात्र रह गया है। (अर्थात् अब देवता युद्ध म वज्र के स्थान पर दुष्यन्त के धनुष पर निर्भर रहते हैं।)

(१९१) कश्यप मुनि और अदिति को देख कर राजा दुष्यन्त ने मातलि से उनके सम्बन्ध में जिज्ञासा की—क्या ये वही महात्मा कश्यप और उनकी पत्नी अदिति हैं जिन्हे ऋषि मुनि स्मरण किया करते है और जिन्हे द्वादश सूर्यों (धाता, मित्र, अर्यमा रुद्र, वरुण सूर्य भग, विवस्वान्, पूषा सविता, त्वष्टा, विष्णु) को उत्पन्न करने वाला माना जाता है? क्या ये ऋषि मरीचि और दक्ष के वही पुत्र-पुत्री हैं तथा ब्रह्मा के वही नाती नातिन हैं

उसका परित्याग किया इसके अनन्तर उसके विषय में यह संशय रहा कि वह मेरी पत्नी है अथवा नहीं और अब पुनर्मिलन होने पर उसे अपनी पत्नी मान लिया।)

छन्द चौपाई अलंकार अनुप्रास उदाहरण।

(१६६) कश्यप मुनि ने शकुंतला को समझाते हुए कहा—तेरे पति ने दुर्वासा मुनि के श्राप के कारण तुझे भुलाकर निष्ठुरतापूर्वक त्याग दिया था, किंतु अब उस (श्राप के कारण उत्पन्न) भ्रम की परिसमाप्ति पर उसने तुझे स्वीकार करके सभी प्रकार का प्रभुत्व दे दिया है। यदि दर्पण तनिक भी मलिन हो तो उसमें प्रतिबिम्ब दृष्टिगत नहीं होता किन्तु दर्पण को धो देने पर उसमें वस्तु का प्रतिबिम्ब सहज भाव से दिखाई देने लगता है। (इसी प्रकार दुष्यन्त के श्रापजन्य मलिन हृदय में तेरे प्रेम का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा था किन्तु धीवर द्वारा प्राप्त अंगूठी के प्रभाव से भ्रम दूर हो जाने के कारण प्रेम पुनः पल्लवित हो गया है।)

(१६७) शकुंतला के पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कश्यप मुनि ने कहा—यदि वीर पुत्र सहज वेग वाले रथ पर आरूढ़ होकर समुद्रों को पार करके सात द्वीपों तक प्रसारित पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेगा। इस आश्रम में इसने सभी पशुओं को अपने वशीभूत करके सर्वदमन नाम प्राप्त किया था और (युवावस्था में) प्रजा का लालन पालन करने से इसे भरत कह कर पुकारा जायगा।

(१६८) मुनिवर कश्यप ने इन्द्र और दुष्यन्त की अटूट मैत्री की कामना करते हुए कहा—इन्द्र (आकाश से) वर्षा रूपी मुक्ताओं की वर्षा करता रहे जिससे तुम्हारी प्रजा सुखपूर्वक रह सके। तुम भी विविध यज्ञों का उपक्रम करके (हवि द्वारा) देवताओं का मनुष्य करते रहो। इस प्रकार परस्पर मैत्री भाव से एक दूसरे के कार्यों में सहायता प्रदान करते हुए तुम दोनों ही युगों तक प्रधान चिरकाल तक राज्य करते रहो। (तुम दोनों के सुखद शासन में पृथ्वी एवं स्वर्ग) दोनों लोकों के निवासी सुख शान्ति प्राप्त करें और तुम दोनों का यशोगान करें।

(१६९) दुष्यन्त ने कश्यप मुनि से कहा—हे महात्मन्! आप कृपया

यह आशीर्वाद दें कि पृथ्वी के सभी राजा अपनी प्रजा की सुख-सुविधा लिए पुण्य कर्मों का पालन करें। वेदाध्यायी ब्राह्मण प्रेमपूर्वक सरस्वती की आराधना करें जिससे ज्ञान का व्यापक प्रसार हो। भगवती उमा प्राणेश्वर जगत के रक्षक, नीललोहित (कण्ठ में विषपान के कारण नील धारण किए हुए तथा भभूति आदि के लपन से लालवर्णी जटाओं में गंगा स्वयम्भू भगवान शिव मुझ (मुक्ति प्रदान करके) संसार में आवागमन विपत्ति से छुटकारा दिलावें।

विशेष—प्रस्तुत शिखरिणी छन्द भरतवाक्य के रूप में लिखा गया संस्कृत-नाटकों की यह सामान्य पद्धति रही है कि उनमें प्रारम्भ में नान्दी के विधान की भांति नाटक की समाप्ति पर प्रधान पात्र द्वारा मानव की सुख शान्ति की कामना रहती है।

O